जैनागम नवनीत
आगम निबंध माला
[भाग- १]

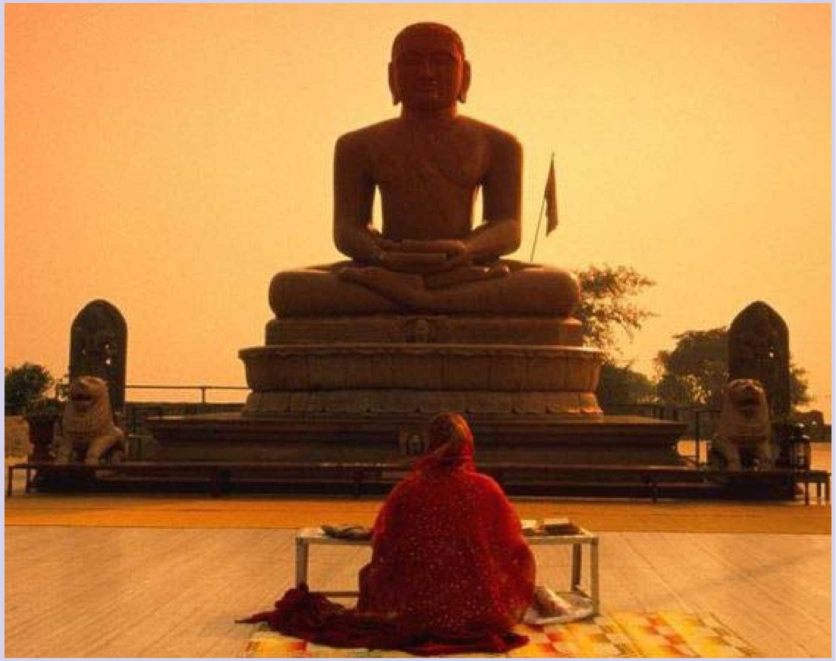

1

साहित्य सूचि

[इन्टरनेट पर उपलब्ध-जैन ई लाइब्रेरी तथा आगम मनीषी]

हिन्दी साहित्य :-

१ से ३२	आगम सारांश हिंदी
३३ से ४०	(१) गुणस्थान स्वरूप (२) ध्यान स्वरूप (३) संवत्सरी विचारणा (४) जैनागम विरूद्ध मूर्तिपूजा (५) चौद नियम (६) १२ व्रत (७) सामायिक सूत्र सामान्य प्रश्नोत्तर युक्त (८) सामायिक प्रतिक्रमण के विशिष्ट प्रश्नोत्तर (९) हिन्दी में श्रमण प्रतिक्रमण (१०) श्रावक सविधि प्रतिक्रमण
५१ से ६०	जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर भाग-१ से १०
६१-६२	जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर विविध दो भागों में
६३-६४	आचारांग प्रश्नोत्तर दो भागों में
६५	ज्ञानगच्छ में.......प्रकाशगुढ का शासन......
६६	स्था. मान्य ३२ जैनागम परिचय एवं साहित्य समीक्षा
६७(१०१)	जैनागम नवनीत निबंधमाला भाग-१ से

गुजराती साहित्य :-

१ से ९	जैनागम सुत्तागमे गुजराती लिपि में- ९ भागों में
१०	जैन श्रमणों की गोचरी, श्रावक के घर का विवेक
११	जैनागम ज्योतिष गणित एवं विज्ञान
१२ से १९	जैनागम नवनीत-मीठी मीठी लागे छे महावीरनी देशना(८)
२०-२९	जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर भाग-१ से १०
३०-३१	(१) १४ नियम, (२) १२ व्रत
३२	जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर विविध भाग-१
३३-३४	आचारांग प्रश्नोत्तर दो भागों में
३५(१०२)	स्था. मान्य ३२ जैनागम परिचय एवं साहित्य समीक्षा

(योग-६७ + ३५ = १०२)

जय महावीर

जय गुढ समरथ

जय गुढ चम्पक

जैनागम नवनीत

आगम निबंध माला

[भाग-१]

आगम मनीषी

श्री त्रिलोकचन्द जी जैन

राजकोट

प्रकाशक : श्री जैनागम नवनीत प्रकाशन समिति, राजकोट

[पुष्पांक-१०१]

सम्पादक : आगम मनीषी श्री त्रिलोकचन्दजी जैन

प्रकाशन समय : ३०।६।२०१४

प्रथम आवृत्ति : प्रत : १०००

मूल्य : **50-00**

प्राप्तिस्थान : **श्री त्रिलोकचन्द जैन**
ओम सिद्धि मकान
६, वैशालीनगर, रैया रोड,
राजकोट-360 007 (गुजरात)
Mo. 0 98982 39961

EMAIL-agammanishi@org www.agammnishi.org / jainlibrary.e.org

कोम्प्युटराईज-	डी. एल. रामानुज,	मो.९८९८० ३७९९६
फोरकलर डिजाइन-	हरीशभाई टीलवा,	मो.९८२५० ८८३६१
प्रिन्टिंग प्रेस-	किताबघर प्रिन्टरी	मो.९८२४२ १४०५५
बाईन्डर-	हबीबभाई, राजकोट	मो.९८२४२ १८७४७

प्रकाशकीय–संपादकीय

मानव जीवन अनेक उतार–चढावों का पिटारा है । जो इसमें संभल संभलकर चले वही श्रेष्ठ लक्ष्य को पा सकता है अन्यथा कभी भी भटक सकता है । वैसी स्थिति में आगमज्ञान प्रकाश ही जीवन का सही मार्गदर्शक बन सकता है ।

इस ज्ञान श्रृंखला में पाठकों को ३२ आगम सारांश एवं ३२ आगम प्रश्नोत्तर के बाद अब नया अवसर आगमिक निबंधों का संग्रह–निबंध निचय अनेक भागों के रूप में हस्तगत कराया जायेगा । जिसमें आगम सारांश और प्रश्नोत्तर में से ही विषयों को उट्टंकित कर निबंध की शैली में प्रस्तुत किया जायेगा ।

ये निबंध पाठकों, लेखकों, मासिकपत्र प्रकाशकों एवं जीवन सुधारक जिज्ञासुओं को उपयोगी, अति उपयोगी हो सकेंगे । इसी शुभ भावना से आगम ज्ञान सागर को इस तीसरी निबंध श्रेणी में तैयार किया गया है ।

(१) स्वाध्याय संघों के सुझाव से----- आगम सारांश

(२) आचार्यश्री देवेन्द्रमुनिजी की प्रेरणासे---- आगम प्रश्नोत्तर

(३) नूतनपत्रिका संपादक से प्रेरणा पाकर--- आगम निबंध

आशा है, आगम जिज्ञासु इस तीसरे आगम उपक्रम से जरूर लाभान्वित होंगे ।

इस निबंध माला के प्रथम भाग में मुख्य रूप से शासन एवं आगम परम्परा–इतिहास, संयम, दीक्षा एवं अध्ययन–अध्यापन, पद व्यवस्था, प्रायश्चित्त तथा आचार, समाचारी, एवं कर्म अवस्था इत्यादि विषयों को स्पर्श करने वाले निबंध संपादित किये है ।

T. C. JAIN

प्राक्कथन : आगम महात्म्य

– श्री गुणवंत बरवालिया–मुंबई

अपार करुणा के अवतार प्रभु महावीर स्वामी ने भव्य जीवों के बोध के लिये उपदेश फरमाये जो गौतम आदि गणधर भगवंतो के द्वारा आगमों के रूप में गू थे हुए हमें आज परंपरा से प्राप्त हैं । रु

तीर्थंकर भगवंत को केवलज्ञान केवलदर्शन उत्पन्न होने पर यथासंयोग यथाविधि देव, मनुष्य और तिर्यंच प्राणी भगवान की वाणी श्रवण करने हेतु समवसरण में पहुँच कर अपने अपने योग्य आसन पर स्थित हो जाते हैं ।

प्राप्त परंपरानुसार भगवान १२ प्रकार की परिषद में मालकोश राग के उच्चारण(लय) में अर्द्धमागधी भाषा में **औपपातिक** सूत्रानुसार यथाक्रम से पहले ९ तत्त्वों, ६ द्रव्यों का निरूपण कर फिर सर्वविरति एवं देशविरति धर्म का निरूपण करते हैं । सभी जीव भगवान के तीर्थंकर नामकर्म के अस्तित्व एव प्रभाव से अपनी अपनी भाषा में समझते हैं । औपपातिक सूत्र का उपरोक्त उपदेश विषय एक उदाहरणरूप समझना।

जिनका उपादान उत्कृष्ट है, जिनमें गणधर बनने की योग्यता है, वे भगवान का उपदेश सुनकर वहीं दीक्षित होते हैं और दीक्षा अंगीकार करते ही ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम बढने पर उन्हें पूर्वभव में प्राप्त द्वादशांगी श्रुत उपस्थित हो जाता है । क्योंकि शासन की स्थापना के प्रथम दिन ही वे द्वादशांगी की रचना करते हैं वही आगम ज्ञान की अमूल्य परंपरा हमें भी प्राप्त हो रही है ।

वीर निर्वाण ९८० वर्ष बाद आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण को अनुभूति हुई कि मौखिक आगम परंपरा अब अक्षुण्ण चलने वाली नहीं है, मानव की स्मरण शक्ति घटती जा रही है इसलिये वल्लभीपुर में संत महात्माओं के सहयोग से निरंतर १३ वर्षों के श्रम से आगमों को लिपिबद्ध किया ।

तदन तर अनेक पूर्वाचार्यो ने श्रमण संस्कृति की इस ज्ञानधारा को गतिमान रखने के लिये समय-समय पर आगमों का संपादन, संशोधन,

संवर्धन तथा लेखन करके अद्भुत योगदान दिया है ।

समग्र मानवजाति के कल्याण की हितचिंता रूप तीर्थंकर नामकर्म का उदय करुणा के सागर प्रभु महावीर स्वामी को सतत उपदेश देने के लिये उत्प्रेरित करता है । जिसके फलस्वरूप विश्व के दर्शन साहित्य को अमूल्य भेंट प्राप्त होती है ।

आगमों का चिंतन, स्वाध्याय एवं परिशीलन अज्ञान अंधकार को दूर करके ज्ञान रूपी दीपक का प्रकाश प्रगट करता है । जैन तत्त्वज्ञान, आचारशास्त्र तथा विचारदर्शन का शुभग समन्वय के साथ संतुलित एवं मार्मिक विवेचन आगमों में भरा है जिससे उन आगमों को जैन परंपरा का जीवन दर्शन कह सकते हैं।

पापवृत्ति और कर्मबंधन में से मुक्त होकर पंचम गति के शाश्वत सुख किस प्रकार प्राप्त किये जा सकते हैं उसे दिखाने के लिये हिंसा आदि दूषणों के परिणाम दिखाकार अहिंसा के परमध्येय की पुष्टि करने के लिये अनेक सद्गुणों की प्रतिष्ठा उन आगम शास्त्रों में की गई है । आगम के नैसर्गिक तेज पुंज में से एक छोटी सी किरण भी हमें मिल जाय तो अपना जीवन प्रकाशमय हो जाय । आत्मा को कर्म मुक्त होने की प्रक्रिया में प्रवाहित करने वाले ये आगम आत्म सुधारणा करने के लिये अमूल्य साधन है ।

गणधर भगवंत द्वारा भगवान की वाणी को लेकर सूत्रबद्ध किये गये ये आगम, जीवों के कल्याण के लिये एवं व्यक्ति को ऊर्ध्व गति का पथिक बनाने के लिये प्रेरणा प्रकाश फैलाते हैं ।

अनादिकाल से आत्मा पर लगे हुए कर्मरज को साफ करने की प्रक्रिया अर्थात् आत्मसुधार । आत्मा पर कर्मों के द्वारा विकृति तथा मलिनता के परत जमे हुए हैं जिससे हम अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप को देख–समझ नहीं सकते । अपार शक्ति के मालिक आत्मा के दर्शन हो जाय अर्थात् आत्म स्वरूप का ज्ञान आभाष हो जाय तो संसार के दुःख रूप जन्म मरण की श्र खला से मुक्ति मिल जाय ।

श्वे॰जैन समाज ने भगवान महावीर स्वामी के वचन एवं गणधरों के द्वारा गुंथन किये आगम जो हमें परंपरा से प्राप्त हो रहे हैं, उनका

स्वीकार किया है किंतु दिगंबर जैन समाज ने अपनी ऐसी मान्यता बनाई एवं प्रचारित की कि भगवान के ९८० वर्ष बाद शास्त्रों का लेखन हुआ उसे हम भगवान की वाणी है ऐसा स्वीकार नहीं सकते ।

उनके मतानुसार ऐसे समय में कुंदकुंदाचार्य हुए थे । वे अपनी लब्धि से महाविदेह क्षेत्र में विहरमान तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के पास गये, ज्ञान समाधान लेकर आये । फिर तामिलनाडु में गुफा में बैठकर ग्रंथ समयसार, नियमसार आदि शास्त्र रचे ।

(अपने गुरु की या मत चलाने वाले की ऐसी अतिशयोक्तिपूर्व खोटी बातें बनाकर डींग हाँकी जाती हैं, ऐसा रवैया अतिभक्ति से चलता है और आगम की कसोटी पर अपने पूज्य गुरु को बदनाम करता है । यथा– कोई गये, चूलिका लाये; कोई गये, आये, प्रज्ञापना बनाया। दादा भगवान के प्रचारक भी ऐसी बेतुकी बातें अपनी शान के लिये बनाते हैं ।)

वास्तव में सामान्य मानव(१४ पूर्वज्ञान के बिना) अथवा कोई भी साधु-साध्वी महाविदेह में देव सहाय से भी इस काल नहीं जा सकते। ऐसी खोटी बातें पीछे से होने वाले शिष्य प्रशिष्य आतिशयोक्ति से रच देते हैं । यह सब फिजुल की अति होशियारी है और खोटी शेखी लगाना है । दिगंबरो के द्वारा आगमों को नकारने के बावजूद भी वर्तमान श्वे॰ जैन आगमों के तत्त्वज्ञान के उत्कृष्ट साहित्य को पूरे विश्व के विद्वानों ने स्वीकारा है ।

इन आगम ग्रंथो में चार अनुयोगमय सभी विषयों में जगह-जगह जीव में से सिद्ध बनने की प्रक्रिया का निर्देश, संकेत मिलता है । ये आगम शास्त्र जैन शासन की नीव रूप है । इनमें ज्ञान दर्शन चारित्र इस रत्नत्रय की मालिकी प्राप्त कराने के सिद्धांत–नियम आचारों का विशद् विवेचन है । इसमें कहे गये आचार अवश्य मानव की आत्मोन्नति करा सकते हैं ।

इस तरह दिगंबर समाज ने मौजूद सद्शास्त्रों को नकार कर अपनी जिद्द या धुन के अनुरूप नये शास्त्रों की रचना करके उन्हें स्वीकारा है और असली आगमों को नकली आगम होने का निरूपण किया है। फिर भी– ***कीमत घटे नहीं वस्तु नी, भाखे परीक्षक भूल । जेनो जेहवो पारखी, करे मणि नो मूल ।***

ये आगम हमारी आत्मा की उन्नति में किस प्रकार प्रेरक बन रहे हैं उसकी आंतर विचारणा पाठकों को इन आगम निबंध माला के प्रत्येक भागों के अंदर जगह–जगह मिलेगी ।

उपसंहार :– (१) श्वेतांबर स्थानकवासी जैनों की मान्यतानुसार ११ अंग, १२ उपांग, ४ छेद, ४ मूल और आवश्यक सूत्र ये **३२ सूत्र** आत्मसुधार के लिये साधक के किस तरह उपयोगी होते हैं उसकी विचारणा यहाँ क्रमशः की गई है । (२) श्वे॰ मूर्तिपूजक आराधकों की मान्यतानुसार **४५ आगम** शास्त्र है एवं (३) नंदी सूत्र की आगम सूची अनुसार **७३ आगम** है तथा (४) विशाल दृष्टिकोण की अपेक्षा श्वेताम्बर मान्यता में ८४ आगम भी कोई समय कहे जाते रहे हैं । उन सबका संक्षिप्त परिचय या नामांकन आदि की विचारणा जानकारी भी साधक को ध्यान में ले लेनी चाहिये । क्यों कि वह हमारा जैन साहित्य रूप अक्षय ज्ञान कोष है । आगम नियमानुसार योग्य एवं जिज्ञासु कोई भी साधक इस साहित्य के अध्ययन का अधिकारी है ।

जिनशासन की समस्त व्यवस्था के मूलभूत ये आगम ग्रंथ ही है। इसी में से यत्किंचित् आचरण करने से परमपद के मार्ग की प्राप्ति सहज बनती है । क्षण-क्षण(प्रतिक्षण) जागृत रह कर आत्म– सुधार करने की शिक्षा इन आगमों में एवं विशेषकर उत्तराध्ययन सूत्र में दी गई है । ***॥समयं गोयम मा पमायए ॥***

सोये हुए व्यक्तियों के बीच प्रज्ञासंपन्न पंडित साधक जागृत रहते है वे प्रमाद में विश्वाश नहीं करते, काल(मौत) अति निर्दय है, शरीर दुर्बल है, भारंडपक्षी की तरह सावधान होकर साधकों को विचरण करना चाहिये । **गाथा–**

सुत्तेसु यावि पडिबुद्धजीवी, नो वीससे पंडिए आसुपण्णे ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंड पक्खी व चरेप्पमत्तो ॥उत्तरा॰॥

विश्व के समस्त विषय कोई न कोई तरीके से आगम में समाहित किये गये हैं । व्यक्ति, कुटुम्ब या विश्व की अनेक समस्याओं का समाधान इन आगमों में से मिल सकता है । आगम में प्राप्त होने वाली सूक्तियाँ शुष्क या तर्कवादी ही नहीं है किंतु जिनका जीवन ही

प्रयोगशाला बना था ऐसे परम वैज्ञानिक प्रभु महावीर की तप अनुभूति के ऐरण पर घडी हुई परम सत्य की सफल अभिव्यक्ति है ।

इस आगमवाणी के जनक तीर्थंकर गणधर मात्र विचारक या चिंतक ही नहीं थे परंतु स्वयं उत्कृष्ट साधक थे । तत्त्वों या व्रतों को मात्र चिंतन की भूमिका तक ही सीमित नहीं रखकर चारित्र आचार में परिवर्तन करके जीवन को जीते थे । उनकी ही वाणी और विचार, अनुभव शास्त्रभूत बन गये हैं । ये शास्त्र जीव को परम पद प्राप्त कराने में पूर्ण सक्षम है ।

सद्गुरु की आज्ञा लेकर इन शास्त्रों का अध्ययन किया जाय, ज्ञानी गुरु भगवंतो की सेवा में, समागम में इनका अर्थ रहस्यार्थ समझा जाय और उसे निज जीवन में आचरण रूप अवतरित किया जाय तो अवश्य अपने को भी मुक्ति मार्ग और अंत में मुक्ति की प्राप्ति होने वाली ही है इसमें किंचित् भी संदेह को स्थान नहीं है, ऐसा समझना चाहिये ।

इन जिनागमों में, सूत्र सिद्धांत में– विचार, वाणी और वर्तन का, वृत्ति–प्रवृत्ति का तथा निवृत्ति भावना और कर्तव्यों का अद्भुत समन्वय, सुमेल देखने को मिलता है । इस अवसर्पिणी काल में भी तीर्थंकर गणधर १४ पूर्वी आदि के अभाव में भी इस आगम वाणी के २१००० वर्ष चलने का पूरेपूरा विश्वास दर्शाने वाले हमारे ये आगम हमारी ज्ञान आत्मा की अमूल्य निधि के रूप में हमें बडे सद्भाग्य से मिले हैं।

पुष्करावर्त मेघ की वर्षा का असर अनेक वर्षों तक वर्षा न हो तो भी रहता है जिससे वृक्षों पर फल आते रहते हैं और फसलें पकती रहती है । किंतु भगवान महावीर की वाणी, उपदेश धारा रूप पावन मेघ का असर इस पाँचवें आरे के अंत तक अर्थात् २१००० वर्ष तक रहने वाला है । फल और फसल के समान साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका आराधक जीवन जीकर आत्म कल्याण साधन करते रहेंगे, ऐसे ये हमारे परम पावन आगम हमें बडे ही सौभाग्य से प्राप्त हुए हैं । इनके अध्ययन मनन में हमें परिपूर्ण योगों से तल्लीन बनकर आत्म कल्याण की साधना कर लेनी चाहिये ।

००००

अनुक्रमणिका

निबंधांक		पृष्टांक
(१)	नवकार मंत्र एक चिंतन तथा नमस्करणीय समीक्षा	१३
(२)	जैन इतिहास संबंधी ज्ञान-विज्ञान	१७
(३)	भाषाविवेक आगम आधार से	२०
(४)	जैनागम समुत्पत्ति तथा परंपरा	२२
(५)	भगवान महावीर की शासन परम्परा	२८
(६)	निर्ग्रंथ निर्ग्रंथियों के आत्म परीक्षण की अनुपम परिज्ञा	२४
(७)	नियंठा स्वरूप : छ नियंठों का विशद व्याख्यान	४०
(८)	संयम उन्नति के १० आगम चिंतन कण	५६
(९)	साध्वाचार के हितावह आगम निर्देश	५७
(१०)	शिथिलाचार व शुद्धाचार का स्वरूप (विस्तार से)	६३
(११)	आत्मनिरक्षणीय कुछ दूषित प्रवृत्तियों की सूचि	६७
(१२)	दूषित आचार वालों को विवेक ज्ञान	७१
(१३)	शुद्धाचार वालों को विवेक ज्ञान	७२
(१४)	पासत्था आदि स्वरूप : भाष्य के आधार से	७४
(१५)	पासत्था भी निर्ग्रंथ एवं शुद्धाचारी भी शिथिलाचारी	८६
(१६)	वंदनीय अवंदनीय का स्थूल एवं सूक्ष्मज्ञान	८७
(१७)	शिथिलाचार निबंध संबंधी शंका-समाधान	९१
(१८)	आगम अतिरिक्त श्वेतांबर गच्छों की समाचारियाँ	१०१
(१९)	दीक्षार्थी एवं दीक्षागुढ की योग्यता तथा कर्तव्य(छेद.)	१०७
(२०)	आचार्य आदि प्रमुखों का उत्तरदायित्व (दशा.)	११०
(२१)	आचार्य एवं शिष्यों के परस्पर कर्तव्य(दशा.)	११३
(२२)	आचार्यपद की आवश्यकता एवं आठ संपदा(छेद.)	११४
(२३)	८ संपदाओं की उपयोगिता एवं विवेक (दशा.)	११५
(२४)	आगमोक्त सात पदवियाँ एवं उनकी उपयोगिता(छेद.)	११७
(२५)	सिंघाडा प्रमुख की योग्यता एवं विवेक (छेद.)	१२०
(२६)	आचार्य की योग्यता का संक्षिप्त परिचय(छेद.)	१२२
(२७)	उपाध्याय की योग्यता का संक्षिप्त परिचय(छेद.)	१२३
(२८)	आचार्य-उपाध्याय आदि पदों की योग्यता का विस्तृत ज्ञान	१२४
(२९)	आचार्य आदि के बिना रहने का निषेध(छेद.)	१२९
(३०)	आचार्य उपाध्याय पद देने एवं हटाने का विवेक	१३४
(३१)	१० प्रायश्चित्तों का स्वरूप एवं विश्लेषण	१३६
(३२)	६ महीने से अधिक कोई भी प्रायश्चित्त नहीं(छेद.)	१४०
(३३)	उत्सर्ग अपवाद मार्ग का विवेक ज्ञान (कवि अमरमुनि उपा.)	१४५
(३४)	साधु-साध्वी की परस्पर सेवा-आलोचना निषेध(छेद.)	१४८
(३५)	श्रुत अध्ययन एवं भिक्षु पडिमा (अंत.-व्यव.)	१५०

6

(३६)	साध्वी की गच्छ में रहते स्वतंत्र गोचरी(छेद.)	१५२
(३७)	ज्ञातिकुल में गोचरी गमन विवेक(छेद.)	१५३
(३८)	मकान की गवेषणा का विवेक ज्ञान(छेद.-आचा.)	१५४
(३९)	आगमानुसार पाट की गवेषणा का ज्ञान(आचा.)	१५७
(४०)	रात्रि भर पानी या अग्नि रहने वाले स्थान(छेदसूत्र)	१५९
(४१)	उपर की मंजिल में साधु का ठहरना, डोरी पर कपडे सुखाना	१६०
(४२)	भिक्षु का नौका विहार एवं वाहन उपयोग(निशी.)	१६२
(४३)	एषणा के ४२ दोष-विश्लेषण	१६५
-	१२वें व्रत संबंधीश्रावक के घर का विवेक ज्ञान	१६८
-	३२ शास्त्रों के श्लोक परिमाण तथा आयंबिल तप	१७०
(४४)	संयम तप का हेतु शुद्धि	१७२
-	धर्म के चार वाद और उनका समाधान संक्षेप में(कोटेशन)	१७२
(४५)	रात्रिभोजन : आगम तथा अन्य विचारकों के मंतव्य	१७३
(४६)	दंतमंजन का व्यवहार एवं आगम निष्ठा	१७७
(४७)	ब्रह्मचर्य की जानो शुद्धि उपनियमों में जिसकी बुद्धि	१८०
(४८)	साधुओं के १० कल्पों का स्वरूप और विवेक (छेद.)	१८१
(४९)	पाँच व्यवहारों का ज्ञान एवं विवेक(व्यव.)	१८३
(५०)	कल्प के भेद-प्रभेद एवं स्वरूप(भगवती-२५)	१८५
(५१)	३२ अस्वाध्याय संबधी आगमिक विश्लेषण(छेद.)	१९१
(५२)	अनुकंपा में दोष संबंधी विवेकज्ञान(निशी.१८)	१९७
(५३)	जैनागमों में स्वमूत्र उपयोग, शिवांबु चिकित्सा(छेद.)	१९९
(५४)	सुभाषित-विविध श्रमण गुण	२०१
(५५)	जैनधर्म का प्राण ।	२०३
(५६)	जैन एकता सुझाव	२०८
(५७)	संवत्सरी विचारणा निर्णय	२११
(५८)	चौथ की संवत्सरी का आग्रह आगम विढद्ध	२१३
(५९)	संवत्सरी विचारणा (समवायांग) (निशीथ.) (जंबू.)	२१४
(६०)	सुभाषित संग्रह उत्तराध्ययन सूत्र	२१७
(६१)	सुभाषित संग्रह आचारांग सूत्र	२२१
(६२)	सुभाषित संग्रह दशवैकालिक सूत्र	२२७
(६३)	सुभाषित संग्रह सूयगडांग सूत्र	२३२
(६४)	पुढषार्थ से भाग्य में परिवर्तन	२३६
-	कर्म संबंधी कुछ उलझनों का हल (कोटेशन रूप में)	२३७
-	आगम उपलब्धि	२३७
(६५)	क्रियोद्धार शद की वास्तविकता	२३८
-	अपनी बात	२३९

०००००

निबंध– १

नवकार मंत्र एक चिंतन

चौदह पूर्व का सार कहा जाने वाला नवकार मंत्र किस शास्त्र में है, किसने रचा है, कितना पाठ मौलिक है, इत्यादि प्रश्नों का समाधान हमें प्राप्त करना आवश्यक है ।

नवकार मंत्र मौलिक रूप से एवं पूर्ण रूप से आवश्यक सूत्र के प्रथम सूत्र में आता है । आवश्यक सूत्र गणधर रचित प्रारंभिक शास्त्र है। उसी के ६ अध्यायों, ६ आवश्यकों के पूर्व में सर्वप्रथम पाठ नवकार मंत्र का है, जो परिपूर्ण ९ पदों के रूप में है । उसके पाँच पदों में प्रथम गाथा में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है और शेष ४ पद दूसरी गाथा में चूलिका रूप में उन पंच परमेष्ठी का महात्म्य दर्शाया गया है।

कई लोग चूलिका से भ्रमित अर्थ में पड जाते हैं कि गणधर रचित तो मूल पांच पद ही है और दूसरी गाथा चूलिका रूप आचार्यों की बनाई हुई है; यह व्यर्थ की नासमझी का मूर्खता पूर्ण भ्रम और गलत प्रवाह है । वास्तव में प्रथम गाथा में पाँच पद को नमस्कार है और दूसरी गाथा में नमस्कृतों का महात्म्य है । पंचपरमेष्ठी नमस्कार मूल है और उसका महात्म्य चूलिका रूप है ।

चूलिका कोई अलग चीज होती है मौलिक नहीं होती है यह एक भ्रम है । चूलिका सदासर्वत्र मौलिक ही होती है । मानव शरीर की रचना के साथ उसकी चोटी भी शरीर में मौलिक ही है । पर्वतों की रचना में उनकी चोटी भी मौलिक ही होती है कोई उपर से नहीं लगाई जाती है । शाश्वत पर्वत मेढ की चोटी–चूलिका भी उस पर्वत के साथ मौलिक ही शाश्वत होती है अन्य किसी के द्वारा बनाई नहीं होती है । बारहवें अंग दृष्टिवाद के ५ विभागों में एक चूलिका विभाग होता है वह भी मौलिक ही होता है एवं गणधर कृत ही होता है ।

दशवैकालिक सूत्र की रचना में १० अध्ययन और दो चूलिका है वे भी मौलिक ही है अर्थात् स्वयंभाचार्य के द्वारा ही संपूर्ण रचित है । पीछे से कोई ने महाविदेह से लाकर लगाई ऐसी इतिहास परंपरा तो

व्यर्थ की खोटी गप्प मात्र ही है । वीर निर्वाण की तेरहवीं शताब्दि के आचार्य अगस्त्यसिंह सूरिजी ने दशवैकालिक सूत्र की चूर्णि नामक व्याख्या संस्कृत–प्राकृत में (मिश्र भाषा में) बनाई है उसमें दोनों चूलिका को सूत्र के १० अध्ययन के साथ मौलिक रूप में ही स्वीकारा है और उस चूलिका की गाथाओं की व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है कि अब आगे की गाथा में स्वयंभवाचार्य ने यह प्रतिपादन किया है – वहाँ उन्होंने चूलिका महाविदेह से लाई होने की किंचित् भी चर्चा नहीं करी है सीधे ही सरलता पूर्वक स्वयंभवाचार्य की रचना ही चूलिका को बताया है ।

यों सर्वत्र चूलिका–चोटी मौलिक ही होती है । अतः पंच परमेष्ठी नवकार मंत्र में दूसरी गाथा चूलिका रूप है अर्थात् उसमें मूल विषय नमस्कार नहीं है किंतु नमस्कार का महात्म्य दर्शाया होने से शिखर रूप, चूलिका रूप है । अतः हमारा बोला जानेवाला नवकार मंत्र दो श्लोकमय गणधर रचित आवश्यक सूत्र का प्रथम पाठ है । उसे अधूरा स्वीकारना भ्रम है, गलत है । अर्थात् मूल बात जो दिमाग में खोटी घुस गई है, घुसाई गई है उसे दिमाग में से निकाल देना चाहिये कि "चूलिका कोई अलग चीज होती है और बाद में पीछे से जोडी होती है" उपर दिये गये मानव, पर्वत, दृष्टिवाद, दशवैकालिक आदि के उदाहरणों से सही समझ कर, भ्रमित समझ को निकाल देना चाहिये ।

प्रश्न होता है कि भगवती सूत्र के प्रारंभ में नवकार मंत्र अधूरा ही है क्यों ? उपर समाधान कर दिया गया है कि नवकार मंत्र आवश्यक सूत्र का प्रथम पाठ है और वह परिपूर्ण दो गाथामय है । अन्य शास्त्रों में, किसी भी लेखन के प्रारंभ में लेखक मंगलरूप में कहीं कोई एक पद ही लिखते है यथा कोई अपनी पसंद से अपने लेखन के प्रारंभ में **नमो सिद्धाणं** इतना ही लिखते है और कोई **नमो अरिहंताणं** ऐसा भी लिखते है, यह तो लेखक की अपनी पसंद है । उसी तरह भगवती सूत्र का नवकार मंत्र तो लहियों का अपनी अपनी पसंद का लिखा नमस्कार रूप आदि मंगल है । लहियों ने वहाँ शुरू में सूत्र देवता तथा

ब्राह्मीलिपि आदि को नमस्कार भी लिखा है कारण यह है कि भगवती सूत्र बहुत बडा होने से लहिये लोग अपने कार्य की पूर्णता के मंगल रूप में कितने ही नमस्कार आदि मंगल रूप में लिखते थे और अंत मंगल भी लिखते थे । स्वयं भगवती सूत्र के टीकाकार श्री अभयदेव सूरिजी ने ऐसे पाठों को लहियों के होने का स्वीकार किया है । अन्यथा अनेक देवी-देवता को नमस्कार करना गणधर प्रभु के लिये मानना पडेगा, जो सिद्धांत विपरीत होता है । अतः भगवती आदि कोई भी सूत्र के प्रारंभ में किये गये नमस्कार तो बाद में लहियों द्वारा आये समझना चाहिये ।

कल्पसूत्र के प्रारंभ में भी नवकार मंत्र आता है वह भी कई प्रतियों में होता है और कोई भंडार की प्रत में नहीं भी होता है इससे भी स्पष्ट होता है कि यह सूत्र के प्रारंभ के आदि मंगलरूप नमस्कार लेखन कर्ताओं के इच्छा ढचि अनुसार आये हैं ।

नवकार मंत्र का नाम : विचारणा :- इस मंत्र का शुद्ध नाम नमस्कार सूत्र है । यह आवश्यक सूत्र का प्रथम सूत्र है और इसमें पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया गया है । अतः इसका शुद्ध नाम **नमस्कार सूत्र** है । मंत्र शब्द बाद में जनप्रवाह की रूचि से जोडा गया शब्द है । उसकी दो गाथाओं रूप पाठ में कहीं भी मंत्र शब्द नहीं है । **ऐसो पंच णमुक्कारो** यह कथन है । अतः इसका सही नाम **नमस्कार सूत्र** या पंचपरमेष्ठी नमस्कार सूत्र है । मंत्र कहना आदि यह लौकिक ढचि, लौकिक प्रवाह से चला चलाया समझना चाहिये ।

नवकार या नमस्कार :- इस सूत्र में नमस्कार किया गया होने से नमस्कार सूत्र या प्रवाह से नमस्कार मंत्र कहा जाना तो समझ में आता है परंतु नवकार यह शब्द कहाँ से आया, कैसे आया ?

समाधान :- नव शब्द संख्यावची है यह तो स्पष्ट है इस पाठ में पाँच परमेष्ठी को नमस्कार है तो नव की संख्या का सूचन किस लिये ? तर्कबुद्धि से समझना है कि **कार** शब्द का अर्थ होता लकीर, यथा- रामायण में आता है रामचन्द्रजी सीता को अकेली छोडकर गये तब कार खींच कर गये थे, जिससे रावण अंदर नहीं घुस सका था । अतः

लकीर, लाइन, ये अर्थ **कार** शब्द के है । गाथा रचना में चार पाद- चार लकीरे-लाइने छोटी-छोटी होती है उसे साहित्य की भाषा में चार चरण का श्लोक कहा जाता है । तो नमस्कार सूत्र में प्रथम गाथा में पाँच पद है और दूसरी गाथा में चार चरण गिने हैं इन्हें ही जोडकर नव-कार (लाइन-पद) बनते हैं । इस प्रकार नव पद वाले नमस्कार सूत्र को परम्परा में कभी किसी ने **नवकार** कहने रूप चला दिया है और सूत्र की जगह लौकिक प्रवाह से मंत्र लगाना पसंद कर लिया है यों यह हमारा आवश्यक सूत्र का प्रथम पाठ नमस्कार सूत्र-नवकार मंत्र बन गया है ।

नमस्कार किसको ? :- इस सूत्र में पाँच पदों को ही नमस्कार किया गया है । इन पाँच पदों में पाँच प्रकार के गुणवान आत्माओं का संकलन है । यों पाँचों प्रकार की आत्माएँ धर्म आदि गुणों को धारण करने से महान और नमस्करणीय होती है । हमारे शास्त्र आवश्यक सूत्र में नमस्कार सूत्र भी है और मंगल सूत्र भी है । नमस्कार सूत्र में नमस्कार गुणवान आत्मा को ही है गुणों या धर्म को नमस्कार नहीं है । मंगलसूत्र में चार मंगल चार उत्तम और चार शरण कहे हैं । उसमें गुणवान धर्मवान और धर्म-गुण दोनों लिये हैं । परंतु नमस्कार में एक ही **गुणी** लिये गये हैं । अतः धर्म और गुण स्वयं आदरणीय, शरणभूत, उत्तम है किंतु **धम्मं नमामि-गुणं नमामि** ऐसा नहीं होता है । इसलिये नमस्कार सूत्र में धर्म को नहीं लिया गया है । अतः कोई ज्ञानं नमामि, दर्शनं नमामि, चारित्रं नमामि कहे तो अनुपयुक्त है । ये गुण आदरणीय है । वंदनीय नमस्करणीय तो गुणसंपन्न गुणी आत्मा ही होते हैं! हमारे नमस्कार सूत्र में गणधरों ने गुणवान पाँच प्रकार की आत्मओं का ही संग्रह किया है । अतः हमें किसी भी प्रवाह में आकार गुणों को या धर्म को नमस्करणीय नहीं समझना चाहिये । ये गुण आचारणीय है । यदि गुण भी नमस्करणीय होते तो गणधर पाँच पद की जगह और भी दो चार पद कर सकते थे किंतु गणधरों ने ऐसा नहीं किया है । पँच परमेष्ठी गुणवानों को ही नमस्कार सूत्र में रखा है । धर्म को शरण वाले सूत्र में रखा है । यथा- ***केवली पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।***

सार :– गुणी व्यक्ति नमस्करणीय एवं आदरणीय दोनों होते हैं । किंतु गुण आदरणीय होते हैं नमस्करणीय उन्हें नहीं कहा गया है । नमस्कार सूत्र यह मौलिक नाम शास्त्र का है और नवकार मंत्र यह परंपरा का है और रूढ सत्य बन गया है । नमस्कार सूत्र, आवश्यक सूत्र में गणधरों द्वारा रचित दो गाथामय है । प्रथम गाथा में नमस्कार करना यह मूल विषय हैं, दूसरी गाथा में नमस्कार का महात्म्य दर्शाया है अत: उसे चूलिका कहा गया है । भगवती सूत्र, कल्प सूत्र आदि में कहीं भी किसी लेखन के प्रारंभ में मंगल रूप पाँच पद या एक पद आता है वह लहियों द्वारा ऐच्छिक आदिमंगल रूप किया हुआ होता है, ऐसा सर्वत्र समझ लेना चाहिये ।

निबंध–२

जैन इतिहास संबंधी ज्ञान-विज्ञान

तत्त्वज्ञान में इतिहास का विषय भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । जैन साहित्य संग्रह आज विशाल रूप में उपलब्ध है । उसमें मौलिक आगम साहित्य आचारांग आदि अनेक सूत्र है । जो तीर्थंकर गणधर से लेकर परंपरा से क्रमश: आज तक प्राप्त हो रहा है । अन्य साहित्य भी विभिन्न रूप से बाद के आचार्यों द्वारा संकलित संपादित है । आगमों में इतिहास का मुख्य विषय दृष्टिवाद अंग में होता है तथा छुटकर कुछ अन्य आगमों में भी दृष्टिगोचर होता है ।

दृष्टिवाद अंग का विच्छेद वीर निर्वाण के १००० वर्ष बाद लगभग हुआ है । आगम लिखने की प्रणाली भी उसके आस-पास ही प्रारंभ हुई है । जीवनीएँ या परंपरा पट्टावली वगेरे लिखने की प्रणाली उस समय नहीं चली थी । यह प्रणाली विक्रम की १२ वीं तेरहवीं शताब्दि अर्थात् वीर निर्वाण के १७००–१८०० वर्ष बाद शुरू हुई है ।

नंदी सूत्र में जो अनेक आचार्यों के नाम–गुण कीर्तन है वह कोई पट्टावली या आचार्य परंपरा रूप नहीं है किंतु कालिक श्रुत अनुयोग के धारक युगप्रधान बहुश्रुत गीतार्थ आचार्यों का बहुमान

9

पूर्वक गुणग्राम है । उसमें कोई समकालीन गुढ भाई आदि भी हैं अत: उसे पाटानुपाट परंपरा नहीं समझ सकते ।

कल्पसूत्र में जो नाम, गुण कीर्तन है । वह संकलन भी प्राचीन देवर्द्धिपूर्व का नहीं होकर बहुत बाद का अर्थात् वीर निर्वाण १७००–१८०० वर्ष के लगभग का है । क्यों कि कल्पसूत्र की रचना भी उस समय के पहले नहीं हुई थी एवं वह सूत्र स्वयं भी प्रमाण कोटी में परिपूर्ण नहीं है । उसका नंदी सूत्र में या ३२–४५ आगम में नाम भी नहीं होकर ८५ आगम की संख्या में आता है । अत: उसमें आचार्यों की नामावली भी प्राचीनता के महत्त्व वाली नहीं है तथा उसकी संकलन की भाषा भी डावाँडोल वाली अर्थात् एक निश्चय रूप नहीं हो कर विकल्पों से संयुक्त है । वह शास्त्र स्वयं शुद्ध अस्तित्व वाला न होकर जोड जोडाकर कल्पित किया हुआ है । अत: उसमें उपलब्ध आचार्यों की नामावलि भी महत्त्वशील नहीं कही जा सकती । यों भी इतिहास ग्रंथ बारहवीं तेरहवीं विक्रम की सदी में बनने लगे हैं और यह कल्पसूत्र भी उस समय का होने से उसका महत्त्व उन ग्रंथों जितना प्राचीनता वाला हो सकता है उससे ज्यादा महत्त्वशील नहीं।

जब वीर निर्वाण १७००–१८०० वर्ष बाद ही इतिहास लिखने की प्रणाली प्रारंभ हुई तो इतने वर्षों पूर्व की सामग्री उन इतिहास ग्रंथ लेखकों को; कितने ही तत्त्व आगमों से, ग्रंथों से, कथानकों से व्याख्या ग्रंथों से, किंवदंतियों से, परंपरा से या अशुद्ध परंपरा से प्राप्त हुए हैं तथा कुछ अपनी बुद्धि कल्पना अनुमान से जोडने भी पडे हैं । कारण कि पूर्व के सैकडों वर्षों की घटनाओं के और लेखक के बीच का अंतर बहुत अधिक पड चुका था । उस कारण से स्मृतियाँ भी भेल संभेलवाली एवं विकृत होने से भ्रमित परंपरा एवं कल्पित परंपराओं का संकलन लेखन गुंथन होना स्वाभाविक होता है । फिर भी समय बीतने पर ऐसे इतिहास ग्रंथों के प्रति भी अंध श्रद्धा और आग्रहवृत्तियों के स्थान ले लेने से उन ग्रंथों को झूठमूठ प्राचीनता की छाप लगाने की वृत्तियाँ होने लगी अर्थात् उन ग्रंथों को देवर्द्धि पूर्व के होने की प्रसिद्धि करने की प्रवृत्तियाँ होने लगी । ऐसे

भ्रमित गलत इतिहास की बातें अनेक तर्कों से, प्रश्नों से असमाधित उलझन वाली प्रतीत होती रही और बुद्धि संपन्न लोग भिन्न-भिन्न कल्पना, संगति, समाधान के प्रयत्न प्रयास करने लगे । तो उनकी कल्पना भी अपरिपूर्ण और अधूरे सत्य वाली होने से नये-नये उलझन पूर्ण, आग्रह संयुक्त इतिहास बनते गये हैं ।

बाद के अध्ययनशील चिंतक विद्वान भी उन्हीं विकृत भ्रमित इतिहासों में अपनी तर्क बुद्धि का उपयोग कर करके कुछ मिश्रित नया गलत इतिहास कल्पित कर देते । क्यों कि मूल रूप से प्राप्त इतिहास की ही समीक्षा उन्हीं इतिहासों के आधार से करते हैं । इस प्रकार जैन साहित्य का इतिहास विभाग विविध कारणों से (समय पर नहीं लिख कर सैकडों वर्षों बाद लिखने से) अनेक दूषणों से दूषित बना है और आगम स्वाध्याय अनुप्रेक्षा में भी प्रसंग प्रसंग पर वे इतिहास के कथा प्रसंग आदि दुविधा वाले या बाधक बनते गये हैं अर्थात् आगम से पूर्ण समन्वय न होने से या विरोध पैदा होने से बुद्धिजीवियों के लिये असमंजसकारी होते रहे हैं ।

ऐसे अनेक प्रसंगों तत्त्वों को सुसमाधित करने के लिये इतिहास के सर्वांगीण अध्ययन चिंतन मनन अनुभव को, आगम के गहन गंभीर ज्ञान के साथ समन्वयात्मक तथा निर्णयात्मक अनुप्रेक्षण करके अधिक से अधिक सत्य तत्त्व उजागर हो ऐसी तर्क युक्त प्रज्ञा की कषौटी पूर्वक सारसंग्रह प्रस्तुत किया जाना चाहिए । तभी स्वाध्यायियों को यथाशक्य सही शुद्ध प्राचीन इतिहास तत्त्वों के जानने मानने का आनंद अनुभवित होगा ।

विशेष सूचन :– कदाच धर्म की अत्यंत संक्षिप्त ढचि वाले, आगम साहित्य के अल्प अभ्यासी तथा मात्र अपनी परंपराओं का अनुसरण करने वाले श्रद्धालु जनों के लिये ये इतिहास निबंध ढचिकर या आनंद दायी नहीं हो सके तथापि कुछ विशेष जानने की उत्कंठा वाले उदार चिंतक, उदार विचारशील, बुद्धिशाली, अध्ययनशील, आगम साहित्य के विशेष अभ्यासी स्वाध्यायियों के लिये तो विशेष फलदायी प्रतीत होंगे । नम्र निवेदन यही है कि चिंतनशील पाठक इन इतिहास निबंधों के

संकलन से आशा-निराशा के उतार–चढाव से दूर रहकर तटस्थ बुद्धि रखकर पूर्वापर कही गई बातों का तथा सूचित स्थलों का गंभीर अध्ययन मनन करके सत्य प्राप्त करने की कोशीश करेंगे । परंतु परंपराओं के दुराग्रह चक्र में फंस कर इन लेखों में दर्शाई बातों से विस्मित नहीं बनेंगे और विषमभावी भी नहीं बनेंगे । अर्थात् इनके अध्ययन में गंभीरता रखेंगे । किंतु चमकेंगे भी नहीं एवं दमकेंगे भी नहीं ।

और भी यह सूचन है कि पाठक को कोई तत्त्व पूर्ण समन्वय बुद्धि से कसौटी करने पर भी आगम विपरीत या असत्य होने जैसा आभाष हो, तर्क से भी विपरीत लगे तो एकबार मूल लेखक तक अपने विचार मंतव्य प्रेषित कर स्व पर के ज्ञान वृद्धि के भागी बनने का प्रयत्न करेंगे । एवं मात्र भाषा या प्रूफ संबंधी सामान्य त्रुटि नजर आवे तो अनुग्रह करके सुधार कर स्वयं सही वांचन कर स्वयं समरस में सावधान बनेंगे । ऐसी त्रुटियाँ छद्मस्थ अल्प ज्ञानियों से सहज संभावित भूल मानकर क्षमाभाव धारण कर लेखक संपादक आदि को भी अपनी उदार मनोवृत्ति से क्षमा बक्षेंगे ।**॥इति शुभं भवतु सर्व जीवानाम्, उत्कर्षं भवतु प्रज्ञामंतानाम्॥**

निबंध–३

भाषा विवेक क्या है ? आगमिक विचारणा

खोटे मार्ग के प्रेरक या खोटे आचरण करने वालों को तथा खोटी तर्कें करने वालों को एवं हठाग्रहवृत्ति वालों को शिक्षित करने में भाषा की एकांत मदुता की बातें करना कभी अत्यंत भूल भरा कर्तव्य हो सकता है । इसके लिये कुछ आगम स्थलों का प्रेक्षण करें । यथा– (१) दशवैकालिक सूत्र में आहार संग्रह करने वाले श्रमणों के लिये मृदु संकेत नहीं किंतु तीक्ष्ण शब्द प्रयोग करते हुए कहा गया है कि वे श्रमण **गृहस्थ हैं प्रव्रजित नहीं हैं ।** (२) उत्तराध्ययन सूत्र अध्य. १७ में कहा कि जो श्रमण प्रतिलेखन में प्रमाद करते हैं, विगयों का सेवन कर तपस्या नहीं करते हैं वे **पापी श्रमण** हैं । यह कैसा मृदु शब्द प्रयोग है देखें । (३) महानिशीथ सूत्र में– उन मिथ्यादृष्टि कूलिंगी (जैन

यतियों के समक्ष) उस आचार्य कुवलयप्रभ ने स्पष्ट निडर कथन करके तीर्थंकर नाम कर्म बांधा । (४) दशवैकालिक में– **"धिक्कार है हे अपयश के कामी !"** ये शब्द एक साध्वी के द्वारा एक चरम शरीरी भूलपात्र श्रमण के लिये प्रयुक्त हैं । जिसे शास्त्रकार ने संकलित किया और साध्वी के उन वचनों को सुभाषित कहा । (५) भगवती सूत्र में– हे गौतम ! मेरा **कुशिष्य** गोशालक मरकर बारहवें देवलोक में गया । भगवान स्वयं ने गोशालक के लिये कटुसत्य शब्द प्रयोग किये । (६) रेवति पत्नि को मरकर नरक में जाने का कहने पर महाशतक को प्रायश्चित कराने के लिये भगवान ने गौतम स्वामी को उसके घर भेजा था । फिर भी गौशालक जैसे विधर्मी को प्रत्यक्ष में भगवान ने कहा कि तूँ खुद सात दिन में मर जायेगा । (७) प्रदेशी राजा के लिये केशी स्वामी ने दाण की चोरी आदि अनेक कटु तीक्ष्ण उपमाओं से आक्षेप युक्त भाषा प्रयोग किया था । देखें–***राजप्रश्नीय सूत्र ।***

सार यह है कि भाषा विवेक के विषय में भी जिनशासन में एकांतिकता नहीं किंतु अनैकांतिकता है । अतः कभी कहीं तीक्ष्ण भाषा प्रयोग भी अनुचित नहीं होता है, इस सत्य को भी समझने की जरूरत है । शास्त्रों में ऐसे ही अनेक दृष्टांत देखने को खोजने से मिल सकते हैं ।

निष्कर्ष यह हुआ कि खोटी परंपराएँ, खोटे धर्म मार्ग, खोटे इतिहास, खोटा आचार ढोंग, खोटी प्ररूपणाएँ, खोटे बकवास कर्ता, आगमों में खोटे प्रक्षेप कर्ता, अति होशियारी कर्ता इत्यादि प्रसंगोपात जो भाषा में तीक्ष्णता हो जाय तो उसे गौण करके लेखक या वक्ता के जिनशासन के प्रति हृदयभाव तथा शोधपूर्वक सत्य ज्ञान के श्रम को आदर देने का कर्तव्य पालन करना श्रेयस्कर होता है । किंतु लेखक के आशय की उपेक्षा करके उसके भाषा प्रयोग की निंदा कर कर्मबंध नहीं करना चाहिये । यही पाठकों को हितावह संसूचन करना है । ***सुज्ञेषु किं बहुना*** –समझदारों को इशारा ही काफी है ज्यादा उन्हें क्या कहना ।

नोटः– इस स्पष्टीकरण का उद्देश्य यही है कि हमारे मुमुक्षु पाठक लेखों की

स्वाध्याय से कर्मबंध में नहीं पडकर कुछ ज्ञान और समभाव तथा कर्म निर्जरा हासिल कर आत्म विकास को पावें । तदुपरांत जो कोई मात्र छिद्रान्वेषी या दोषदर्शी बनकर अर्थात् हीनभावनाओं के वशवर्ती होकर संपादक लेखक को अंगुली दिखाने की एवं हीलना निंदा कुथली करने में रस लेने की वृत्ति, राग-द्वेष के मानस से करेंगे, वे हमारे आगम अनुभव एवं श्रम से निर्जरा लाभ करने की वजाय कर्मबंध के लाभ को पाकर अपनी आत्मा को भारी करेंगे । उनके लिये हम अपार कढणा भाव एडवांस में ही प्रेषित कर शुभाकांक्षा करते हैं कि उन्हें गुणग्राहकता की बुद्धि होवे और जिससे वे स्व पर के कर्मबंध के भागी नहीं बनें । इसी शुभाकांक्षा के साथ ।

निबंध–४

जैनागम समुत्पत्ति तथा परम्परा

आगमश्रुत प्रवाह :– तीर्थंकर प्रभु महावीर स्वामी को दीक्षा लेने के बाद १२ वर्ष ५ महिना १५ दिन साधना का पूर्ण होने पर केवल ज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हुआ । उसके दूसरे दिन वैशाख सुद–११ के दिन प्रवचन के अनंतर इन्द्रभूति गौतम आदि की दीक्षा हुई । भगवान के प्रवचन का प्रारूप उववाई सूत्र में है वही समझना । गौतम आदि अणगारों को भगवान ने(आचारांग सूत्रानुसार) छज्जीवनिकाय एवं महाव्रतों का स्वरूप समझाया ।उपन्ने, विगमे, धुवे इस त्रिपदी की बात या ओंकार ध्वनि आदि अन्य परंपराओं से प्राप्त तत्त्व है । तथापि आगम औपपातिक एवं आचारांग सूत्र के अनुसार उनकी अनावश्यकता स्पष्ट होती है ।

गणधरों द्वारा आगम रचना एवं प्रवाह :– तीर्थंकर की प्रथम देशना के दीक्षित श्रमणों में से कुछ श्रमण पूर्वभव से गणधर लब्धि नामकर्म सत्ता में लाये हुए होते हैं । उन सभी को संयम स्वीकार करने के अनंतर द्वादशांगी श्रुत उपस्थित हो जाता है । उनकी संख्या निश्चित नहीं है । वे गणधर ८,९,११ यावत् ८४ आदि हो सकते हैं। वे सभी गणधर मिलकर शासन के प्रारंभ से ही तीर्थंकर प्रभु की आज्ञा से, स्मृति में आये द्वादशांगी ज्ञान के आधार से अपने तीर्थंकर के शासन के अनुरूप संपूर्ण द्वादशांगी का संपादन, रचना, सर्जन

करते हैं । [भारत के पार्ल्यामेंट के सदस्यों के समान, भारत के संविधान के समान ।] जो तीर्थंकर के शासन का श्रुत-आगम कहलाता है । इसीलिये कहा जाता है कि तीर्थंकर अर्थ का निढपण करते हैं, गणधर सूत्रों की रचना करते हैं । तीर्थंकर अर्थरूप में वाणी सदा फरमाते रहते है और गणधर तीर्थ स्थापना के शरू दिन ही द्वादशांगी सूत्र रूप आगमों का सर्जन कर देते है तभी शिष्यो में (साधु-साध्वी समुदाय में) उनका अध्ययन प्रारंभ कर दिया जाता है। साध्वियों के लिये पहले प्रवर्तिनी गणधरों से प्राप्त कर श्रुत को स्थित कर लेती है फिर क्रमिक अध्ययन साधु-साध्वी का अलग-अलग कंठस्थ परंपरा में चलता है । सैकडों हजारों श्रमण-श्रमणियों में कंठस्थ परंपरा से श्रुत ज्ञान आगे से आगे सुव्यवस्थित सुचाढ रूप से प्रवाहित होता है ।

आवश्यक सूत्र की रचना भी गणधर प्रारंभ से कर देते हैं क्यों कि श्रुत ज्ञान के अध्ययन में प्राथमिकता आवश्यक सूत्र की रहती है जिसके सीखने के बाद ही बडी दीक्षा होती है । तदनंतर ग्यारह अंग क्रमशः कराये जाते हैं । बारहवाँ अंग केवल साधु समुदाय में ही प्रवाहित होता है । साध्वी समुदाय में उसका अध्ययन शारीरिक मानसिक क्लिष्टता एवं विशिष्ट साधनाओं से संयुक्त होने के कारण निषिद्ध माना गया है । साधुओं में भी विशिष्ट योग्यता संपन्न अत्यल्प को ही वह ज्ञान दिया जाता है । इसी कारण श्रमणों में भी १२ वें अंग के अध्येता सभी नहीं होते हैं कोई विशिष्ट क्षमता एवं क्षयोपशम वाले ही इसका अध्ययन करते हैं । अन्य को मना कर दिया जाता है ।

श्रुत विच्छेद विचारणा :- भगवान महावीर स्वामी के शासन में संपूर्ण द्वादशांगी के अध्येता १४००० संतों में से ३०० साधु ही हुए। इस कारण भगवती सूत्र अनुसार वीरनिर्वाण के १००० वर्ष बाद १२ वें अंग सूत्र का विच्छेद माना गया है जो उपयुक्त एवं संभव भी लगता है । ग्यारह अंग सूत्र यथाविधि अनेक साधु एवं साध्वियाँ कंठस्थ एवं अध्ययन की परंपरा को व्यवस्थित चलाते रहते हैं । शासन में हजारों साधु-साध्वी सदा रहते ही आये हैं और आज तक

भी हजारों की संख्या में हैं । हुण्डावसर्पिणी के कारण कुछ कमी होवे भी तो हजारों में सैकडों साधु-साध्वी तो आज भी अनेक शास्त्रों को कंठस्थ धारण करने वाले प्रायः सभी संप्रदायों में होते ही है । देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के पूर्व तक तो लेखन नहीं होने से कंठस्थ परंपरा गुरूशिष्य में व्यवस्थित ही चलती रही है। ऐसी जिनशासन की व्यवस्था में श्रमण-श्रमणियों में किसी को एक भी अंग याद नहीं रहना और सभी अंगशास्त्र पूर्णतः विच्छेद हो जाना, ऐसा दिगंबर जैनों का मानना पूर्णतः असत्य और निरर्थक का स्वार्थ पूर्ण चलाया गया बकवास जैसा है।

आगम पहले बडे और बाद में छोटे :- श्वेतांबर समाज में भी एक इतिहास चल पडा है कि आचारांग आदि सूत्र पहले बडे बडे थे फिर धीरे धीरे घटते गये । यह भी बिना विचारणा के भेडचाल की किंवदंती कथन परंपरा मात्र समझना चाहिये । वास्तव में भगवान के शासन में १००० वर्ष बीतने पर पूर्वज्ञान बारहवाँ अंग सूत्र विच्छेद जाने का कथन भगवती सूत्र में है वह तो संभव है । क्यों कि केवल विशिष्ट प्रज्ञावंत शक्तिशाली श्रमणों को सिखाया जाने से ३०० की उत्कृष्ट संख्या घटती रही है जिससे वह श्रुत घटे यह शक्य है । फिर भी देवर्द्धिगणि के समय वीर निर्वाण ९८७ वर्ष तक कइयों को एक पूर्व का ज्ञान उपलब्ध था । उसी के आधार से अनेक अंग बाह्य शास्त्रों की रचना संघ संमति से की गई । ऐसी स्थिति में ११ अंगशास्त्रों का घट जाना या विच्छेद हो जाने रूप कल्पना कदापि संगत नही हो सकती ।

उपलब्ध शास्त्रों में उत्पन्न शंकाओं का समाधान :- आज जो कुछ भी शास्त्रों में जो भी कमी या परिवर्तन, पूर्वापर विभिन्नता और कई प्रश्न चिन्हों के योग्य भी आगम वर्णन उपलब्ध है उसमें मुख्य रूप से देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय सामुहिक विचारणा पूर्वक किये गये परिवर्तन संशोधन संपादन, वर्धन, निष्काशन-विभाजन आदि कारण है और देवर्द्धि के बाद के १५००-१६०० वर्ष के लेखन काल, संयम शिथिलता का काल और पूर्वों के विच्छेद से रहे अल्प ज्ञानियों के काल की विशेष उपलब्धियाँ संभव है । लिखित होने से

व्यक्तिगत मंतव्यों, दृष्टियों, कुबुद्धि-सुबुद्धि विचारकता आदि का भी असर आगमों के मूल पाठों में हुआ संभव है । भस्मग्रह के प्रभाव की अधिकता से यति वर्ग की एवं श्रमणों की शिथिलता आदि से, विभिन्न विवादों के कारण स्वार्थ बुद्धि के असर भी आगमों पर पडे संभव है । इसके अतिरिक्त लेखन परंपरा के कारण सभी को अपने पास अपने भंडारों में लिखकर या लिखवाकर संग्रहित करने में पूर्ण स्वतंत्रता रही है । जिससे भी लिपि दोष, लिपि भ्रम दोष, लहियों की भूलें, शब्द छूटना, वाक्य या लाइन छूटना, अक्षर पहिचानने में नकल करने में समझभ्रम, सोचभ्रम आदि का भी असर आया है । कभी किसी ने दुर्बुद्धि से भी शब्द, अक्षर, वाक्य मनचाहे लिखकर अपनी प्रति अपने भंडार में रखी हो यह भी संभव है । क्यों कि भस्म ग्रह के असर का और शिथिलाचार के असर का एवं कुछ स्वच्छंदता का असर भी मध्यकाल में रहा है ।

विद्वानों की अयोग्य कल्पना :- कई जैन विद्वान जो कि कोरे विद्वान मात्र है जिन्होंने संयम का और आगम स्वाध्याय पुनरावर्तन का एवं कंठस्थ करने का अनुभव नहीं किया है उनका चिंतन कथन कई बार कई तरीकों से सामने आता है कि प्रथम आचारांग प्राचीन है वीरनिर्वाण दूसरी शताब्दि की रचना संभव है आचारांग द्वितीय श्रुतस्कंध की भाषा और वर्णन अनुसार वह वीरनिर्वाण की चौथी शताब्दी के करीब का रचा लगता । ठाणांग समवायांग भी वीर निवार्ण तीसरी एवं सातवीं शताब्दि की रचना हो सकती है इत्यादि विविध कथन केवल अपनी बुद्धि की एवं अपने प्रकार की विद्वत्ता की कसरत मात्र है । वास्तव में गणधर कृत आगम जो भगवान के शासन में प्रारंभ से ही कंठस्थ परंपरा में सैकडों हजारों साधु-साध्वियों में चल रहे हैं उसे निरर्थक ही कौन बहुश्रुत छेड-छाड करेगा अर्थात् छोटा करे या नया बनावे अथवा भाषा पलटे । यह सारी क्लिष्ट कल्पना, आगम कंठस्थ परंपरा के अनुभव हीन बुद्धि के अधूरे चिंतन का परिणाम है । ऐसा किसी भी धर्मशासन मे किसी को अधिकार नहीं होता है । अतः बिना स्पष्ट प्रमाण या इतिहास के ऐसी कल्पनाएँ करने में कोई लाभ नहीं है ।

समाधान :- जब कंठस्थ परंपरा में परिवर्तन आया । देवर्धिगणी के समय सामुहिक लेखन युग का प्रारंभ हुआ । उसी समय से और उसके बाद के लेखन युग से जो हमारे तक पहुँचते १५०० वर्ष का पीरियड पार कर रहा है इसी युग में मध्यकाल में हुए परिवर्तन, पाठों की विभिन्नता, पूर्वापर कथन में विविधता-असमंजस आदि उपस्थित हुए हैं । ऐसा समझ लेने एवं मान लेने पर विशुद्ध १००० वर्ष के पूर्वधरों के काल में पूर्वधर बहुश्रुत आचार्यों पर व्यर्थ का खोटा आक्षेप नहीं जाता है । देवर्धि के बाद का काल तो कई प्रकार से विकट ही बीता है । विधर्मी राजाओं का व्यवहार, यतिवर्ग का व्यवहार, परस्पर मतभेद, बौद्धों का व्यवहार, फिर दिगंबर-श्वेतांबर के विरोध, आरंभ समारंभ, आडंबर, लोकेषणा की साधुओ में वृद्धि आदि अनेक कारण बने हैं । फिर भी ५-२५ प्रतिशत शुद्ध वर्ग भी सदा रहता आया है । अतः शासन का सही प्रवाह भी कुछ गतिमान रहा है । इस कारण आज भी हमारे पास पहुँचा साध्वाचार धर्माचरण एवं आगम श्रुत ७५-८० प्रतिशत शुद्ध जिनवाणीमय पहुँचा है, जो हमारे मोक्षमार्ग पराक्रम में पूर्ण सहायक एवं सफलता दिलाने में सक्षम है । जिसमें भी भस्मग्रह के उतरने पर लोकाशाह की क्रांति ने बहुत कुछ श्रुत एवं चारित्र धर्म का संरक्षण संवर्धन आगे बढाया है ।

व्याख्या साहित्य की रचना-लेखन :- देवर्द्धिगणि के समय ११ अंग शास्त्रों के लेखन संपादन एवं अंग बाह्य अनेक आगम श्रुत-उपांगसूत्र आदि के सर्जन संपादन लेखन हो जाने के बाद उन आगमों की अर्थपरंपरा मौखिक रखी गई थी अर्थात् केवल मूलपाठों का ही लेखन कराया गया था । उस अर्थ परंपरा के मौखिक चलते धीरे.२ सूत्र के अर्थ लेखन की आवश्यकता एवं विवेचन लेखन की आवश्यकता समय-समय पर साधकों, आचार्यों, बहुश्रुतों को होने लगी । जिससे देवर्द्धि के आगम लेखन व्यवस्था के करीब ५० वर्ष बाद आगम शब्दों के व्युत्पत्ति परक निढक्त अर्थ, शब्दार्थ, प्राकृत भाषा में पद्यमय श्लोक रूप में लिखे गये । यह कार्य आचार्य द्वितीय भद्रबाहु स्वामी, वराह मिहिर के भाई श्रमण ने किया । जिसमें १०

शास्त्रों का कार्य हुआ । उस व्याख्या का नाम **निर्युक्ति व्याख्या** रखा गया ।

उसके १०० वर्ष बाद करीब वीरनिर्वाण ११५० वर्ष के करीब उन शब्दार्थों का विशेषार्थ लिखने की आवश्यकता हुई । उस व्याख्या का नाम **भाष्य व्याख्या** रखा गया । वह भी प्राकृत श्लोक गाथा रूप में की गई है । इस कार्य के करने वाले आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि विद्वान हुए । उसके १०० वर्ष करीब बाद गद्यमय प्राकृत भाषा में विवेचन-विवरण आगमों पर लिखे गये जिन्हें **चूर्णि व्याख्या** कहा गया । इस कार्य के करने वाले आचार्य जिनदासगणि महत्तर, अगस्त्यसिंह सूरि आदि महान पुढष अनेक हुए । तब तक हरिभद्र सूरि का समय भी आ पहुँचा था । उन्होंने भी कुछ आगमों पर प्राकृत भाषा में **चूर्णि व्याख्या** लिखी थी । उन्हीं के समय से शास्त्रों की संस्कृत व्याख्या विवेचन स्पष्टीकरण भी लिखे जाने लगे । १००० + ५० + १०० + १०० + १०० = १३५० वीर निर्वाण के एवं विक्रम की सातवीं आठवीं सदी का समय आया । फिर विक्रम की १२वीं सदी तक संस्कृत व्याख्याओं का समय चला । तब तक उपलब्ध सभी आगमों की संस्कृत प्राकृत व्याख्याएँ एक या अनेक आचार्यों की प्रचलित हो गई थी । यहाँ पर हेमचन्द्राचार्य तथा आचार्य मलयगिरी जी का समय हो रहा था । अनेक जैन इतिहास ग्रंथ, उपदेश ग्रंथ, कथाग्रंथ आदि भी लिखे जाने लगे थे । इस प्रकार जैन साहित्य बढता ही गया, कुछ शुद्ध भी रहा, कुछ विकृत और कुछ मनमाना छद्मस्थता स्वार्थता युक्त एवं अपने विविध आग्रहों की पुष्टी के ग्रंथ तथा एक दूसरे के खंडन मंडनात्मक ग्रंथ भी संस्कृत प्राकृत में बनते गये । इस मध्य काल में जिन शासन में भी संस्कृत प्राकृत व्याकरण का बहुत प्रचलन रहा । महान धुरंधर विद्वान संत-श्रमण आचार्य हुए ।

इस व्याख्या ग्रंथों के समय तक के ग्रंथो में कहीं भी पर्युषणा कल्पसूत्र का नामो निशान भी देखने को नहीं मिलता है । विक्रम की १२वीं-१३ वीं शताब्दि के बाद में इस सूत्र का समय चला है जिसे ज्यादा प्राचीन बताने की कई विचित्र कल्पनाएँ घडघड करके प्रचार

की जाती रही है । वास्तव में कल्पसूत्र नंदीसूत्र कथित (१) चुलकल्प सूत्र (२) महाचुलकल्प सूत्र एवं अन्य कुछ जोड-जोडाकर तैयार कर पर्यूषण में दुपहर में प्रवचन सभा में सुनाना शरू किया । फिर उसका सभासदों में महत्त्व बढाने में उतरते उतरते अतिशयोक्ति में लगकर १४ पूर्वीभद्रबाहु का यह शास्त्र है ऐसी झूठी सेखी लगाना शरू किया । फिर उसके लिये एक झूठ के पीछे अनेक झूठ कथन चले । फिर भी समझने वाले बुद्धिशाली समझ सकते है कि विक्रम की १२ वीं शताब्दि पूर्व के आचार्यों के ग्रंथों में कहीं भी कल्पसूत्र का नाम भी नहीं है । न ही किसी प्राचीन आचार्य की इस सूत्र पर व्याख्या बनी है तथा नंदी सूत्र में आगम सूची में पर्युषणा कल्प सूत्र का नाम नहीं है ।

नंदी सूत्र में ७३ आगमों के नाम है, उसमें से ५० लगभग आगम आज उपलब्ध है ।श्वेतांबर परंपरा में ३२ अथवा ४५ आगम होने का जो कथन किया जाता है वह भी श्रद्धा का विषय मात्र है । वास्तव में ३२ या ४५ की संख्या में कोई भी संख्या कसौटी में सही उतरने जैसी नही है । दोनों ही सत्यता से दूर है अर्थात् वे ३२-४५ भी अधूरे हैं । अन्य अनेक आगम भी नंदी सूत्र में कहे गये आज प्रकाशित उपलब्ध हैं उन्हें शास्त्र नहीं गिनने का कोई खास प्रमाण आधार या योग्य तर्क भी नहीं है । प्रमाणिक आगम या अप्रमाणिक आगम की कोई भी परिभाषा कायम की जाय तो भी सरलता एवं सत्यनिष्ठता के साथ खोजने की बुद्धि से अनाग्रह भाव से अन्वेषण करने पर दोनों ही संख्या सत्य से बहुत दरू रहेगी । इस विषय में विशेष दिग्दर्शन आगे यथा प्रसंग किया जायेगा ।

निबंध-५

भगवान महावीर की शासन परम्परा

चौवीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के शासन में आगम परम्परा एवं शासन परंपरा कुछ विशिष्ट रूप से प्रवहमान हुई है । इसका मुख्य कारण है- हुण्डावसर्पिणी काल एवं २००० वर्ष का भस्मग्रह;

जो भगवान के निर्वाण समय में जन्म नक्षत्र पर लगा था । जिसका कथन वर्तमान मे **पर्यूषणा कल्प सूत्र** में है और वही कथन प्राचीन काल में नंदी सूत्र सूची में कहे **महाकल्प सूत्र** अथवा **चुल्लकल्प सूत्र** में रहा था । नंदी में कहे उन्हीं दोनों सूत्रों को साथ जोड़कर तैयार किया गया पर्युषणा कल्प सूत्र विक्रम की चौदहवीं सदी के आस-पास अस्तित्व में आया है । इसी कारण उस समय के पूर्व के मलयगिरि आचार्य तक के आगम व्याख्याकारों की व्याख्या में या उनके ग्रंथों में पर्युषणा कल्प सूत्र के नाम का किसी प्रकार का उल्लेख नहीं है। कल्पसूत्र पर स्वतंत्र व्याख्याएँ भी विक्रम की चौदहवीं सदी में या उसके बाद ही बनने लगी है ।

भगवान महावीर का विशिष्ट शासन :– तेवीस तीर्थंकरों का शासन बिना किसी छेद-भेद के, बिना उत्थान–पतन के, एक रूप से चलता आता है । महाविदेह क्षेत्र में भी हजारों लाखों वर्षों तक तीर्थंकरों का शासन छेदन-भेदन के बिना एक रूप से श्रंखलाबद्ध चलता रहता है । (कुछ तीर्थंकरों (७) के शासन में विच्छेद रूप अछेरा हुआ है तो भी छेद–भेद एवं उत्थान पतन उसे नहीं कहा जा सकता ।) किंतु भगवान महावीर स्वामी का शासन प्रारंभ से अर्थात् उनके जीवन काल से ही छेदन-भेदन वाला चला है जिसमें आजतक भी समय-समय पर कुछ न कुछ छेदन-भेदन चलता जा रहा है ।

गोशालक :– भगवान के शासन की शरूआत से ही गोशालक तीर्थंकर रूप में प्रसिद्धि में आया और लाखों जैनी उसने अपने मत प्रमाणे अलग बनाये । जिनकी संख्या अपेक्षा से भगवान के श्रावकों से अधिक थी । फिर मरने के पूर्व भी उस गौशालक ने सर्वज्ञ सर्वदशी, ३४ अतिशय युक्त भगवान के समक्ष ऐसा तांडव उदंगल खडा किया कि आवेश और आक्रोश में अपनी बहुसंख्यक मंडली के साथ भगवान के समवसरण में पहुँचकर भगवान के सामने बेतुकी निरर्थक कई प्रकार की झूठी बकवास रखी । दो श्रमण श्रेष्ठों को सब के देखते ही देखते तेजोलेश्या से भस्म कर दिया । वे शुभ परिणामों में काल करके देवलोक में गये और आराधक एक भवावतारी बने । उस गौशालक के

उपद्रव निमित्त तीर्थंकर स्वयं छः महिना अस्वस्थ रहे। लोगों में अफवाहे चली कि जैनो के दो तीर्थंकर आपस में झगडे और एक कहे तूँ छः महिने में मर जायेगा, दूसरा कहे तूँ सात दिन में मर जायेगा । वास्तव में सात दिन में गौशालक अत्यंत क्लेश पाकर मर गया और भगवान महावीर स्वामी ६ मास बाद पूर्ण स्वस्थ पूर्ववत् बने । उसके बाद १५–१/२ साढे पंद्रह वर्ष सुखपूर्वक सर्वज्ञ–तीर्थंकर अवस्था में विचरे ।

जमाली :– भगवान के द्वारा दीक्षित महापुण्यशाली ५०० पुढषों के साथ दीक्षा लेने वाला खुद का संसारी अति निकट का रिस्तेवाला (जंवाई एवं भाणजा– ***कथाओं में वर्णन है)*** जमाली अणगार केवली नहीं होते हुए भी अपने को भगवान के समक्ष केवली होने की सेखी मारने लगा और भगवान एवं गणधर गौतम स्वामी के द्वारा भी सही रस्ते नहीं लगा एवं गलत मान्यता और मिथात्व में आकर उसका अलग पंथ चोथे आरे में चलता रहा ।

निह्नवः– भगवान के निर्वाण बाद भी कितने निन्हव जिनशासन में छोटी छोटी बातों को लेकर होते रहे । तीर्थंकर गणधर की मौजूदगी में भी जमाली छोटी सी बात में उलझा रहा तो फिर बाद के शासन में अपने अहं में अपनी तानने वालों को कौन कैसे समझावें ।

दिगंबर :– निह्नवों की संख्या सात प्रसिद्ध हुई । उसके उपरांत आगम लेखन के बाद वीर निर्वाण १००० वर्ष बाद जैन दिगंबर मत नया खडा हुआ । नये ग्रंथ बनाये । जिनागमों को अमान्य किया । और एकांत नग्नत्व से ही साधुपन और मोक्ष होना कहने लगे । वस्त्र का खंडन और वस्त्र बिना रह नहीं सकने के कारण स्त्री मुक्ति का निषेध मनमाने शरू किया ।

प्रश्न– दिगंबर तो देवर्धिगणि के शास्त्र लेखन के पहले हो गये थे ऐसा सुनने जानने में आता है तो १००० वर्ष बाद का कथन क्या उचित है ? **समाधान**–यह एक वर्तमान प्रवाह है जो देवर्द्धि के बाद कई झूठ के साथ बनता चलता रहा है । कोई भी अपने को प्राचीन सिद्ध करने के लिये कुछ भी झूठ या प्रपंच करने लग गये थे ।

वास्तव में समझना यह है कि देवर्द्धि के आगम लेखन संकलन पूर्व दिगंबर मत प्रचलन या आग्रहयुक्त परंपरा चली होती और उनके ग्रंथो में श्वेतांबर धर्म का खंडन और खुद का मंडन प्रारंभ हो गया होता तो शास्त्र लेखन संकलन एवं नये शास्त्र संपादन में श्वेतांबर क्यों पीछे रहते, वे भी, दिगंबरों का खंडन शास्त्रों में घुसाते और नये शास्त्रों में उन्हें जडमूल से उखाडने का लेखन करते, यह छद्मस्थ मानव स्वभाव ढक नहीं सकता । किंतु देवर्धि के संकलन संपादन, लेखन से आये आज के उपलब्ध आगमों में दिगंबरों का कहीं भी खंडन होवे ऐसी एक लाइन भी नहीं है । उल्टे में अचेल धर्म की मुक्त दिल से प्रशंसा प्ररूपणा इन शास्त्रो में है । इससे स्पष्ट है कि श्वेतांबर के शास्त्र मूल शासन परंपरा से प्राप्त प्राचीन एवं एकांत के आग्रह, दुराग्रह, मताग्रह की गंध से रहित है । इसीलिये ऐसा कथन किया गया कि आगम लेखन संकलन के बाद दिगंबर धर्म का आग्रह चला है । अत: उपलब्ध खोटे इतिहास तो अपने को प्राचीन होने का खोटा सिक्का लगवाने की करामातों से बने बनाये होने में कोई आश्चर्य नहीं है । मध्यकाल में ऐसी कई करामातें हुई है । खोटे-खोटे शिलालेख, मूर्तियाँ भी बना बना कर जमीन में गाड़ दी गई हैं ।

मूर्तिपूजक :– दिगंबरों के बाद श्वेतांबरो में समय प्रभाव से शिथिलाचार एवं लोकेषणा के पनपने से मूर्ति मंदिर धर्म समुत्पन्न किया गया जो भस्मग्रह के प्रभाव के कारण पूर्णशिखर पर पहुँचता गया है । फिर भी ज्ञानी ध्यानी, प्रकांड विद्वान संत, आचार्य समय-समय पर होते रहे हैं । जिन्होंने आगम सेवा, जिनशासन सेवा प्रभावना अपनी-अपनी सीमा में अवश्य करी है । उसी से उतरता-चड़ता, गिरता-पड़ता जिन शासन वीर निर्वाण के २००० वर्ष तक आगम भाषा में अपेक्षा से अवनतोवनत चलता रहा अर्थात् कुल मिलाकर हायमान अवस्था में उत्तरोतर बढता रहा ।

लोकाशाह : क्रियोद्धार :–*वीर निर्वाण २००१ में उन्हीं शिथिल संत वर्गों के लोकागच्छ नामक गच्छ में से कुछ संत भस्मग्रह के समाप्ति निमित्त आगे आये और क्रियोद्धार प्रारंभ किया ।* अनेक संकटों से

परिपूर्ण वह क्रियोद्धार पनपता बढता चला । कुछ ही वर्षो में १५ लाख जैनों में से ८ लाख जैनों ने उस क्रियोद्धार में अपनी सहमती दिखाई । यही प्रवाह, वही समाज, चतुर्विध संघ बनकर स्थानक वासी धर्म के नाम से प्रख्यात हुआ । ***[मंदिर मार्गियों के लोंकागच्छ के अपने स्वतंत्र मंदिर एवं उपाश्रय भी थे उसी गच्छ में से लक्ष्मीविजयजी म.सा. आदि दस संत की टुकडी ने यथासमय पुन: नई दीक्षा लेकर क्रियोद्धार=जिनशासन का पुनढत्थान किया ।]***

स्थानकवासी धर्म :– ऐसे समय में अवशेष श्वेतांबर मूर्तिपूजक संत समाज ने भी अपने संगठन के प्रयत्न किये कुछ आचार को भी उन्नत बनाया । साथ-साथ मंत्र–तंत्र बल से विरोध भी किया किंतु कल्पसूत्र कथित २००० वर्ष के भस्मग्रह हटने के कारण शासन उन्नतोन्नत होता ढका नहीं । स्थानकवासी साधु-साध्वी संख्या भी बढती गई । एक लोकाशाह (लोकागच्छीय उत्तम संत पुढष) खडे होने पर उसके सहयोगी अनेक क्रांतिकारी वीर लोकाशाह रूप श्रमण आदि बनते गये और जिनशासन उन्नतोन्नत होता रहा ।

पुन: उत्थान पतन के चक्र में :– सैकडों वर्ष के इस उत्थान के बाद हुंडावसर्पिणी के पाँचवें आरे के कारण पुन: उत्थान-पतन, चढाव-उतार चलते-चलते आज जिन–शासन में १४ हजार जैन संत सतीजी एवं लाखों करोड़ों (५ करोड) जनता रूप जैन समाज अपने अपने दायरे–संप्रदाय में बढता जा रहा है साथ ही वक्र जड़ता की बुद्धि के कारण कुछ छिन्न-भिन्न, संप्रदायभेद, फूट–कलह, राग–द्वेष, मेरे तेरे, आपसी मन मुटावों आदि अनगिनत ग्रहों के साथ भी ज्ञानदर्शन चारित्र तथा तप में चहुँ ओर सापेक्ष (स्थूल दृष्टि से) प्रगति भी होती जा रही है ।

वर्तमान जिनशासन की सत्य दशा :– एकता के अभाव में जहाँ महावीर जयंती, पर्यूषणा–संवत्सरी भी अलग-अलग मनाते जा रहे हैं; शिथिलाचार, लोकप्रवाहादि दूषण बढते ही जा रहे है एवं पुन: आडंबर, आरंभ-समारंभ, मिथ्या प्रवृतिएँ बढती ही जा रही है । यों धर्म के रूप को विकृत बनाते हुए भी जिनशासन के एवं जिनधर्म के प्रति जनता में एवं व्यक्ति में अतिशय भक्ति की वृद्धि आज भी

शिखर पर चढ रही है । लोग धर्म के नाम पर या धर्मगुढओं के नाम पर धन को समर्पण करने में महादानवीर बनते देखे जाते है । तो तपस्याओं में भी अनेक प्रकार से सूरवीरता सामने आ रही है । ज्ञान प्रचार भी सभी संघो में अनहद होता जा रहा है । अनेक मुमुक्षु आत्माएँ जवान, बालक, वृद्ध संसार त्याग कर आश्चर्य उत्पन्न करे जैसी साधना के शिखर सर करते देखे जा रहें है अंत में हम देख रहे है कि आज के भौतिकवाद के प्रचार के जमाने में इन्द्रिय गुलामी एवं शरीर मोह आसक्ति के इस जमाने में **आजीवन अनशन** तो पचासों सेकडों वर्षों के रिकार्ड को तोडते जा रहा है ।

कोई दीक्षा लेते ही भयंकर गर्मी के दिनों में ६७ दिन के संथारे की आराधना कर रहे हैं, कोई ९३ तिरानवे दिन के संथारे (जिसमें ९० दिन चौविहार और बीस वर्ष की दीक्षा) में आत्मकल्याण सर कर रहे हैं । इस तरह साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका चतुर्विध संघ में पूरे हिंदुस्तान में संथारे, पंडितमरण का दौर भी बहुत ही जोर शोर से बढता जा रहा है । कहीं कहीं तो संथारे की लडी(एक न एक संथारा चालु) चलते रहने का भी सुनने में आ रहा है ।(कच्छ के लोगो में)

उपसंहार : २१००० वर्ष शासन :– इस तरह भगवान का शासन आज फूट, फजीति, राग–द्वेष, सीमातीत शिथिलाचार के चलते भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं संथारे की साधना तक में बढते भी जा रहा है । ज्ञान आराधाना में भी आज ३२ आगम या अनेक आगम कंठस्थ करने वाले भी प्रकाश में आ रहे हैं । सैकडों जगह ज्ञान शिविर हो रहे हैं । कुल मिलाकर इस नैतिक पतन तथा भौतिकवाद के बोलबाले वाले युग में भी अनेकों **धर्मवीर** आज भी समय समय जानने सुनने पढने में आ रहे हैं । यों गिरते पडते, चढते भगवान का यह शासन कुल २१००० वर्ष चलेगा ।

निबंध–६

निर्ग्रंथों के आत्म परीक्षण की परिज्ञा

साधु–साध्वियों की गति विधि का चित्रण :– संयम स्वीकार करने के बाद निर्ग्रन्थ दो दिशाओं में प्रगति करते है । कई साधक संयम आराधना में प्रगतिशील होते हैं तो अनेक साधक संयम विराधना में गतिशील होते हैं ।

संयम आराधना में प्रगतिशील कई भिक्षु स्वप्रशंसा या स्वगच्छ प्रशंसा एवं अपना उत्कर्ष करते हुए तथा अन्य जिन वचनानुरक्त सामान्य साधकों का अपकर्ष–निंदा करने या सुनने में रस लेते हुए मान कषाय के सूक्ष्म शल्य से आत्म संयम की अन्य प्रकार से विराधना करते रहते हैं ।

इसके विपरीत कई आराधना में प्रगतिशील साधक स्वयं उन्नतोन्नत संयम तप का पालन करते हुए परीषह उपसर्ग सहन करते हैं, साथ ही अल्पसत्व साधकों के प्रति हीन दृष्टि नहीं रखते हैं एवं उनकी निंदा अपकर्ष भी नहीं करते हैं । किन्तु उनके प्रति मैत्री भाव, कढणा भाव, माध्यस्थ भाव आदि से सह्रदयता का एवं उच्च मानवीयता का अंतर्बाह्य व्यवहार रखते हैं । ये उत्तम आराधना करने वाले आदर्श साधक होते हैं ।

संयम विराधना में गतिशील साधक स्वमति से या गतानुगतिक स्वभाव से संयम समाचारी से भिन्न या विपरीत आचरणों को एक-एक करके स्वीकारते जाते हैं एवं संयम स्वीकारने के मुख्य लक्ष्य से क्रमशः च्युत होते जाते हैं ।

विराधना में प्रगतिशील कई साधक अन्य आराधक साधकों के प्रति आदर भाव रखते हुए उनकी आराधनाओं का अनुमोदन करते रहते हैं एवं स्वयं की अल्पतम एवं दोष युक्त साधना का खेद रखते हैं एवं आगमोक्त आचार की शुद्ध प्ररूपणा करते हैं ।

इसके सिवाय विराधना में प्रगतिशील कई साधक क्षेत्र काल की ओट लेकर आगमोक्त मर्यादाओं की खिंसना या खण्डन करते

हैं । अन्य आराधक साधकों के प्रति आदरभाव न रखते हुए मत्सर भाव रखते हैं एवं अपने बुद्धि बल या ऋद्धि बल से उनके प्रति निंदा आदि प्रकारों से असद्भाव प्रकट करते हैं अर्थात् शुद्ध आराधना करने वालों के प्रति गुणग्राही न बन कर छिद्रान्वेषी बने रहते हैं ।

इन सभी आराधक एवं विराधक साधकों को प्रस्तुत निबंध रूप दर्पण में खुद ही आत्म निरीक्षण करना चाहिए ।

आगमों में साधक के दो विभाग :-

१- जैन आगम भगवती सूत्र में उत्तम-साधक, शुद्धाचारी साधुओं को निर्ग्रन्थ के विभागों में समाविष्ट किया है । वर्तमान में उन छः विभागों में से तीन निर्ग्रन्थ विभाग के साधु हो सकते हैं ।

२- अनेक आगमों(ज्ञाता सूत्र, निशीथ सूत्र-व्यवहार सूत्र आदि) में शिथिलाचारी सामान्य साधकों के अनेक विभाग कहे हैं । वे सब मिलाकर कुल दस होते हैं । वर्तमान में ये दसों ही शिथिलाचारी विभाग हो सकते हैं । इन दोनों विभागों का परिचय इस प्रकार है-

वर्तमान में संभावित निर्ग्रंन्थ के तीन विभाग :-

१- बकुश निर्ग्रन्थ :- संयम समाचारी के आगमिक प्रमुख-अप्रमुख प्रायः सभी नियमों का पालन करते हुए भी इस निर्ग्रन्थ के शरीर एवं उपधि की शुद्धि में विशेष लक्ष्य हो जाता है । शरीर के प्रति निर्मोह भाव भी कम हो जाता है । जिससे वह तप स्वाध्यायादि की वृद्धि न करते हुए खान-पान में आसक्ति, औषध सेवन में रूचि, आलस-निंद्रा में वृद्धि करता है, साथ ही उसके अनेक संयम गुणों के विकास में जागरूकता कम हो जाती है ।

अन्य संयम समाचारी के नियमों के भंग करने पर या उनके प्रति उपेक्षा भाव रखने पर यह साधक क्रमशः निर्ग्रन्थ विभाग से च्युत हो जाता है । कृष्ण नील एवं कापोत इन तीन अशुभ लेश्या के परिणाम आने पर तो यह साधक निर्ग्रन्थ विभाग से तत्काल(उसी क्षण) गिर जाता है अर्थात् उनमें निर्ग्रन्थ विभाग के छट्ठा सातवाँ आदि गुणस्थान नहीं रहते हैं । तब वह शिथिलाचारी विभाग के **पासत्था** आदि में पहुँच जाता है ।

२- प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ :- संयम समाचारी का आगमानुसार पालन करने की रूचि के साथ-साथ प्रयत्न करते हुए भी शारीरिक परिस्थिति से या श्रुत ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए एवं संघ हित के लिए, समय-समय पर मूल गुण में या उत्तर गुणों में दोष का सेवन करता है साथ ही उसे दोष समझ कर यथासमय शुद्धि भी करता है और कभी परीषह उपसर्ग सहने की अक्षमता में भी दोष लगा लेता है एवं खेद करके शुद्धि कर लेता है ।

परिस्थितिवश दोष सेवन कर परिस्थिति के दूर होते ही उस दोष को छोड़ देता है अर्थात् किसी भी दोष की अनावश्यक प्रवृत्ति को लंबे समय तक नहीं चलाता है । इस प्रकार की साधना की अवस्था में प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ रहता है ।

किसी भी दोष को लंबे समय तक चलाने पर, शुद्धि करने का लक्ष्य न रखने पर, अन्य अनेक समाचारी में भी शिथिल हो जाने पर अथवा तो अशुद्ध प्ररूपण करने पर यह साधक क्रमशः निर्ग्रन्थ विभाग से च्युत हो जाता है । कृष्ण, नील, कापोत इन तीनों अशुभ लेश्या के परिणाम आने पर तो साधक इस निर्ग्रन्थ विभाग से तत्काल ही गिर जाता है अर्थात् संयम के छठवें सातवें आदि गुणस्थानों में नहीं रहता है । तब वह शिथिलाचारी विभाग के **पासत्था** आदि में पहुँच जाता है ।

३-कषायकुशील निर्ग्रन्थ :- यह साधक संयम समाचारी का निरतिचार पालन करता है अर्थात् पाँच महाव्रत, पाँच समिति एवं सम्पूर्ण संयम विधियों का आगमानुसार पालन करता है ।

किन्तु संज्वलन कषाय के उदय से कभी क्षणिक एवं प्रगट रूप कषाय में परिणत हो जाता है । किन्तु उस कषाय के कारण किसी भी संयमाचरण को दूषित नहीं करता है ।

अनुशासन चलाने में या अनुशासित किये जाने में अथवा किसी के असद्व्यवहार करने पर क्षणिक क्रोध आ जाता है । वैसे ही क्षणिक मान, माया, लोभ का आचरण भी इसके हो जाता है । इन कषायों की अवस्था बाहर से दिखने में कैसी भी क्यों न हो किन्तु अन्तर में

शीघ्र ही स्थिति हट जाती है । प्रतिक्रमण के समय तो वह स्थिति सुधर कर साधक का हृदय सर्वथा शुद्ध पवित्र हो जाता है ।

इस साधक के कषाय के निमित्त से संयम मर्यादा का भंग हो जाय तो यह निर्ग्रन्थ अवस्था नहीं रहती है किन्तु पूर्व कथित प्रतिसेवना निर्ग्रन्थ अवस्था में चला जाता है ।

किसी कषाय की अवस्था का यदि प्रतिक्रमण के समय तक भी अंत न हो जाय तो यह निर्ग्रन्थ अपनी निर्ग्रन्थ अवस्था से च्युत होकर संयम रहित या समकित रहित अवस्था को प्राप्त करता है । इसी प्रकार पूर्व कथित दो निर्ग्रन्थ भी प्रतिक्रमण के समय तक कषाय परिणामों का संशोधन नहीं करले तो फिर निर्ग्रन्थ विभाग में नहीं रहते हैं ।

कषाय की अल्पकालीनता में एवं प्रतिपूर्ण संयम मर्यादा पालन करते हुए इस कषाय कुशील निर्ग्रन्थ के कभी तीन अशुभ लेश्या के परिणाम आ जाय तो भी यह अपने निर्ग्रन्थ विभाग से तत्काल च्युत नहीं होता है किन्तु अशुभ लेश्याओं में अधिक समय रह जाय तो पूर्ण शुद्धाचारी यह निर्ग्रन्थ भी संयम अवस्था से च्युत हो जाता है ।

विवेक ज्ञान :– ***इसलिए निर्ग्रन्थ अवस्था से च्युत नहीं होने के लक्ष्य वाले साधकों को अपने किसी भी दोष में, किसी भी कषाय वृत्ति में, किसी भी अशुभ लेश्या में अधिक समय स्थिर नहीं रहना चाहिए । सदा सतर्क सावधान जागरूक रहते हुए अविलम्ब इन अवस्थाओं से निवृत्त होकर आत्म भाव में लीन बन जाना चाहिए ।***

शिथिलाचारी के विभाग :–

१–पार्श्वस्थ :– जो ज्ञान दर्शन चरित्र की आराधना में पुरूषार्थ नहीं करता किन्तु उनमें शुस्त हो जाता है तथा रत्न–त्रयी के अतिचारों एवं अनाचारों का आचरण करके उनकी शुद्धि नहीं करता है वह पार्श्वस्थ (पासत्था) कहा जाता है ।

२–अवसन्न :– जो प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, विनय प्रतिपत्ति, आवश्यक आदि समाचारियों का एवं समितियों का पालन नहीं करता है अथवा हीनाधिक या विपरीत आचरण करता है एवं शुद्धि नहीं करता है,

वह अवसन्न(ओसन्ना) कहा जाता है ।

३–कुशील :– जो विद्या, मंत्र, तंत्र, निमित्त कथन या चिकित्सक वृत्ति आदि निषिद्ध कृत्य करता है एवं उससे अपनी मान संज्ञा या लोभ संज्ञा का पोषण करता है तथा इन प्रवृत्तियों का कोई प्रायश्चित्त भी नहीं लेता है, वह कुशील(कुशीलिया) कहा जाता है ।

४– संसक्त :– जो उन्नत आचार वालों का संसर्ग प्राप्त कर उन्नत आचार का पालन करने लग जाता है एवं शिथिलाचार वालों का संसर्ग पाकर वैसा भी बन जाता है अर्थात् नट के समान अनेक स्वाँग धर सकता है और ऊन के समान अनेक रंग धारण कर सकता है । वह **संसक्त** (संसत्त) कहा जाता है।

५– नित्यक :– जो चातुर्मास कल्प एवं मास कल्प के बाद विहार नहीं करता है या उससे दुगुना काल अन्यत्र व्यतीत करने के पूर्व पुनः उस क्षेत्र में आकार रह जाता है अर्थात् जो चातुर्मास के बाद आठ मास अन्यत्र बिताये बिना ही वहाँ पुनः आकर रह जाता है वह नित्यक(नितिया) कहा जाता है ।

जो शक्ति होते हुए भी कभी विहार नहीं करता है एवं एक जगह निष्कारण ही कल्प उपरांत ठहर जाता है, वह भी **नित्यक** (नितिया) कहा जाता है ।

६– यथाच्छंद :– जो स्वच्छंदता से आगम विपरीत मनमाना प्रढपण या आचरण करता है, वह **यथाच्छंद स्वच्छंदाचारी** कहा जाता है ।

७– प्रेक्षणिक :– जो अनेक दर्शनीय स्थलों एवं द्दष्यों के देखने की अभिरूचि वाला होता है एवं उन्हें देखते रहता है तथा उसका सूत्रोक्त कोई भी प्रायश्चित्त ग्रहण नहीं करता है वह **प्रेक्षणिक**(पासणिया) कहा जाता है ।

८– काथिक :– जो आहार कथा, देश आदि कथा करने, सुनने, जानने में अभिरूचि रखता है एवं उसके लिए स्वाध्याय के समय की हानि करके समाचार पत्र पढ़ता है, वह काथिक(काहिया) कहा जाता है।अथवा जो अमर्यादित समय तक धर्मकथा करता ही रहता है जिसके कारण प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण स्वाध्याय, ध्यान, विनय, वैयावृत्य आदि

प्रवृत्तियों में अव्यवस्था करता है । एवं स्वयं के स्वास्थ्य को भी अव्यवस्थित करता है, वह भी **काथिक** कहा जाता है ।

९– मामक :– जो ग्राम एवं नगरों को, गृहस्थ के घरों को, श्रावकों को या अन्य सचित्त-अचित्त पदार्थों को मेरा-मेरा कहता है या इनमें से किसी में भी ममत्व या स्वामित्व भाव रखता है अथवा अधिकार जमाता है तथा शिष्य शिष्याओं के प्रति अतिलोभ, आशक्ति भाव रखता है । अथवा स्वार्थ भाव से गुढआमना आदि प्रवृत्तियों के द्वारा लोगों को अपना बनाने का प्रयत्न करता रहता है वह **मामक**(मामगा) कहा जाता है ।

जन साधारण को जिन मार्ग में जोड़ने के लिए धर्म कथा या प्रेरणा आदि किसी भी प्रवृत्ति के करने पर कोई स्वत: अनुरागी बन जाय और भिक्षु उसमें मेरा–मेरा की बुद्धि नहीं रखे तो उस प्रवृत्ति से वह **मामक** नहीं कहा जाता ।

१०– संप्रसारिक :– जो गृहस्थ के सांसारिक कार्यों में, संस्थाओं में भाग लेता है, गृहस्थ को किसी भी कार्य के प्रारंभ हेतु शुभ मुहूर्त आदि का कथन करता है, व्यापार आदि प्रवृत्तियों में उसे प्रत्यक्ष परोक्ष किसी भी प्रकार से मदद करता है । अन्य भी अनेक पुण्य के मिश्रपक्ष वाले अकल्पनीय कार्यों में भाग लेता है, वह **संप्रसारिक**(संपसारिया) कहा जाता है ।

११– महादोषी :– इनके शिवाय जो रौद्र ध्यान में वर्तता है, क्रूर परिणामी होता है, दूसरों का अनिष्ट करता है, झूठे आक्षेप लगाता है, अनेक प्रकार से मायाचार करता है अथवा तो परस्त्री गमन करता है, बड़ी चोरियाँ करता है, धन संग्रह करता है, छ: काया के आरंभ वाले मंदिर–मकानों का निर्माण एवं संघ निकालना आदि करवाता है, अपनी प्रतिष्ठा के लिए संघ में भेद डाल कर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है । ऐसा करने वाला सामान्य साधु हो या आचार्य आदि पदवीधर हो वह तो इन शिथिलाचार के १० विभागों से भी बढ़ जाता है एवं साधु वेष में रहते हुए गृहस्थ तुल्य एवं आत्मवंचक होता है और किन्ही-किन्ही प्रवृत्तियों वाला तो महान धूर्त एवं मक्कार भी होता है ।

संयम स्वीकार करने के बाद होने वाली अनेक अवस्थाओं की यह बहुमुखी परिज्ञा कही गई है । प्रत्येक साधक इसे आत्म–परीक्षा का दर्पण समझ कर ध्यान पूर्वक इसमें अपना मुख देखें अर्थात् इस पर से आत्म निरीक्षण करे एवं मनुष्य भव को सार्थक करना हो, संयम आराधन करना हो तो अपना योग्य सुधार करे । **–शुभं भवतु सर्व निर्ग्रन्थानाम् ।**

नोट :– (१) निर्ग्रन्थ के छहों विभागों की विस्तृत जानकारी एवं शिथिलाचार और शुद्धाचार विशेष का स्पष्टीकरण अन्य निबंध में देखें । (२) पासत्था आदि दस की भी विस्तृत सप्रमाण (भाष्यगाथा युक्त) व्याख्या भी यथाप्रसंग अन्य निबंध में देखें ।

निबंध–७

छ: प्रकार के निर्ग्रंथों का विश्लेषण

भगवती सूत्र श. २५ उद्देशक ६में मौलिक रूप से पाँच निर्ग्रन्थ कहे गये हैं एवं बाद में ३६ द्वारों से छ: निर्ग्रन्थों का वर्णन किया गया है अर्थात् कुशील निर्ग्रन्थ के दो भेद कर दिए गये है– १. प्रतिसेवना कुशील २. कषाय कुशील । इस प्रकार कुल छ: निर्ग्रन्थ निम्न हैं– १. पुलाक २. बकुश ३. प्रतिसेवना कुशील ४. कषाय कुशील ५. निर्ग्रन्थ ६. स्नातक । प्रथम द्वार में इन छहों के पाँच–पाँच भेद करके स्वरूप बताया है । फिर शेष ३५ द्वारों से अनेक प्रकार का विश्लेषण किया गया है । उस विश्लेषण को दृष्टिगत रखते हुए यहाँ इन छहों नियंठों का क्रमश: पारिभाषिक एवं सैद्धांतिक विषद् विश्लेषण किया जा रहा है ।

१. पुलाक नियंठा :– संयम ग्रहण करने के प्रारंभ में कषाय कुशील नियंठा प्राप्त होता है ।उसमें कुछ संयम पर्याय वृद्धि और ९ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद किसी साधक को पुलाक लब्धि उत्पन्न–प्राप्त होती है । वह जब किसी आवश्यक प्रसंग पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र सम्बन्धी प्रयोजन से उस लब्धि का प्रयोग करता है तब उस लब्धि प्रयोग अवस्था में अंतर्मुहूर्त के लिये जो नियंठा रहता है वह **पुलाक नियंठा** कहा जाता है । पुलाक निर्ग्रन्थ कभी भी साधु आदि पर आई

हुई आपत्ति को दूर करने के लिये चक्रवर्ती राजा आदि को भी भयभीत कर सकता है, दण्ड दे सकता है और उस आपत्ति का निवारण कर सकता है । ऐसा करने में उसके संयम में अवश्य ही मूल गुण प्रतिसेवना (दोष प्रवृत्ति) या कभी उत्तर गुण प्रतिसेवना होती है। इस नियंठे का सम्पूर्ण काल अंतर्मुहूर्त का है । अतः लब्धि प्रयोग के कार्य से वह अंतर्मुहूर्त में ही निवृत हो जाता है और आलोचना प्रायश्चित्त कर शुद्ध संयम दशा में अर्थात् कषाय कुशील नियंठा में आ जाता है ।यदि अंतर्मुहूर्त में निवृत्त नहीं होवे या आलोचना आदि के भाव नहीं होवे तो अंतर्मुहूर्त की स्थिति समाप्त होने पर असंयम अवस्था को प्राप्त कर लेता है । इस लब्धि प्रयोग की अवस्था में तीन शुभ लेश्या में से ही कोई एक लेश्या रहती है, अशुभ लेश्या नहीं रहती । फिर भी प्रवृत्ति में आवेश और अक्षमा भाव होने से तथा छोटे या बड़े किसी दोष की नियमा होने से इस नियंठे के प्रारंभ से ही संयम पर्यव की इतनी कमी आने लग जाती है कि बकुश नियंठे के जघन्य चरित्र पर्यव से इनके अनंत गुणहीन चरित्र पर्यव हो जाते हैं । यह नियंठा जीवन में उत्कृष्ट तीन बार ही आ सकता है । लब्धि प्रयोग में ज्ञान दर्शन आदि का कोई न कोई हेतु निमित होता हैं उन निमितों की अपेक्षा से इसके ५ प्रकार कहे गये हैं ।

१. ज्ञान पुलाक– ज्ञान(अध्ययन) के सम्बन्ध में किसी के द्वारा किसी भी प्रकार की बाधा उत्पन्न की जाने पर उस विकट परिस्थिति में जो कोई पुलाक लब्धि का प्रयोग करता है तो वह **ज्ञान पुलाक निर्ग्रन्थ** कहलाता है ।

२. दर्शन पुलाक– दर्शन के सम्बन्ध में अर्थात् श्रद्धा प्रढपणा के संबंध में किसी के द्वारा किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न की जाने पर उस विकट परिस्थिति में जो कोई पुलाक लब्धि का प्रयोग करता है, वह **दर्शन पुलाक निर्ग्रन्थ** कहलाता है ।

३. चारित्र पुलाक– संयम पालन की आवश्यक विधियों में किसी के द्वारा किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न की जाने पर उस विकट परिस्थिति में जो कोई पुलाक लब्धि का प्रयोग करता है वह **चारित्र पुलाक निर्ग्रन्थ** कहलाता है ।

४. लिंग पुलाक– आवश्यक वेशभूषा व उपधि के सम्बन्ध में किसी के द्वारा किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न की जाने पर विकट परिस्थिति में जो कोई पुलाक लब्धि का प्रयोग करता है वह **लिंग पुलाक निर्ग्रन्थ** कहलाता है ।

५. यथा सूक्ष्म पुलाक– अन्य विविध कारणों से अर्थात् संघ या व्यक्ति विशेष (साधु, श्रावक, दीक्षार्थी आदि) पर आई हुई आपत्ति आदि की विकट परिस्थिति में जो पुलाक लब्धि का प्रयोग करता है वह **यथा सूक्ष्म पुलाक** कहलाता है ।

आगम में ३६ द्वारों से पुलाक का स्वरूप बताया गया है जिसके प्रथम द्वार में ये पाँच भेद करके व्याख्या की गई है । इस नियंठे के नाम से ही यह स्पष्ट है कि यह नियंठा पुलाक नामक लब्धि के प्रयोग करने से साधु को प्राप्त होता है ।

यद्यपि ३६ ही द्वारों से इसका यही उक्त अर्थ फलित होता है, फिर भी १. प्रज्ञापना, २. लेश्या, ३. स्थिति, ४. गति, ५. भव ६. आकर्ष, ७. अंतर, ८. प्रतिसेवना, ९. लिंग, १० संयमपर्यव, ११. समुद्घात आदि द्वारों से तो अत्यन्त ही स्पष्ट हो जाता है कि यह अवस्था लब्धि प्रयोग के समय की ही है । अन्य कोई भी पुलाक अवस्था सूत्रकार को अपेक्षित या विवक्षित नहीं है ।

अतः टीकाकारों द्वारा कल्पित लब्धि पुलाक और आसेवना पुलाक दो भेद करना अनुपयुक्त है और आसेवना पुलाक के ही ये पाँच भेद है ऐसा कहना भी, सूत्रानुकूल नहीं है । क्यों कि ऐसी कोई सूचना ३६ द्वारों में नहीं की गई है किन्तु केवल लब्धि पुलाक को ही इन भेदों में विवक्षित कर समस्त वर्णन किया गया है और ऐसा मानने पर ही शेष द्वारों में वर्णित विषयों की संगति सम्यक् प्रकार से हो सकती है।

व्याख्याकारों ने लब्धि पुलाक और आसेवना पुलाक दो मूल भेद किए हैं फिर आसेवना पुलाक के सूत्रोक्त पाँच भेद सूचित किए हैं। जिसमें केवल ज्ञान पलाक को ही लब्धि प्रयोग करने वाला कहा है, साथ ही केवल स्खलना से "ज्ञान पुलाक", शंका करने से "दर्शन

पुलाक", और आधाकर्मी आहारादि की मन से इच्छा करने मात्र से "चारित्र पुलाक" नियंठा होना कहा है । इस प्रकार टीकाकार कथित भेद-प्रभेद और उनकी व्याख्याएं अपने आप में अनेक शंकाओं से भरी असमाधित ही रहती हैं और आगम के आशय को स्पष्ट न करके भ्रमित ही करती है । अत: प्रथम प्रज्ञापना द्वार में कथित पाँच प्रकारों से लब्धि की अपेक्षा किया गया उपरोक्त अर्थ समझना ही आगमसम्मत है एवं सर्व शंकाओं के निवारण योग्य है ।

ज्ञान एवं दर्शन में क्रमश: स्खलना या शंका होने से पुलाक निर्ग्रन्थ का सम्बन्ध करने की अपेक्षा चारित्र के मूल गुण या उत्तर गुण प्रतिसेवना का सम्बन्ध करना ही उचित होता है ।

क्यों कि नियंठों का परिवर्तन आदि चारित्र मोह के उदय से होता है जबकि स्खलना या शंका का होना ज्ञानावरणीय या दर्शन मोहनीय कर्म से सम्बन्धित है ।

इसलिए आसेवना पुलाक का विकल्प करना और छोटे छोटे दोषों से उसकी संगति करना एक क्लिष्ट कल्पना ही है । जबकि सूत्रोक्त ३६ ही द्वार लब्धि प्रत्ययिक पुलाक की विवक्षा से सरलता पूर्वक समझे जा सकते हैं ।

अत: टीकाकार निर्दिष्ट भेद एवं उनका स्वरूप तर्क संगत एवं आगम सम्मत न होने से उपादेय नहीं है । इसी कारण उक्त पाँचों भेदों का स्वरूप लब्धि प्रयोग अवस्था से ज्ञानादि का निमित मानकर उक्त विधि से समझ लेना चाहिए ।

२. बकुश नियंठा- यह नियंठा भी संयम ग्रहण करने के प्रारंभ में नहीं आता है । कुछ संयम पर्याय के बाद पुलाक के उत्कृष्ट चरित्र पर्यव से अनंत गुण अधिक चरित्र पर्यव हो जाने पर उत्तर गुण के दोष रूप शिथिल प्रवृतियों के आचरण से यह नियंठा आता है अर्थात् शरीर तथा उपकरणों की विभषा करने वाला, हाथ पैर मुख, शय्या-संथारा, वस्त्रादि को बिना खास प्रयोजन धोने वाला या बार-बार धोनेवाला तथा अन्य भी अनेक शिथिल प्रवृतियों को अपनी ढचि व आदत से करने वाला व संयम परिणामों की जागढकता(प्रगतिशीलता)

में कमी लाने वाली प्रमाद रूप अनावश्यक प्रवृतियाँ करने वाला **बकुश निर्ग्रन्थ** कहलाता है । यह निर्ग्रन्थ मूल गुण में दोष नहीं लगाता है। इसके दोष की प्रवृतियाँ सूक्ष्म दर्जे की, उत्तरगुण दोष के सीमा तक की व शिथिल मानस वृति की होती है । दोष का दर्जा अपनी सीमा से आगे बढ़ जाने पर यह नियंठा नहीं रहता है । तब वह असंयम में या प्रतिसेवना कुशील नियंठा में चला जाता है। दोष की शुद्धि आलोचना प्रायश्चित के द्वारा करले तो भी यह नियंठा नहीं रह कर विशुद्ध कषाय कुशील नियंठा आ जाता है । लगे दोष की शुद्धि नहीं करे और कुछ प्रवृतियाँ सूक्ष्मदोष की चालू रखे, उसके अतिरिक्त शुद्ध संयम आराधना में तत्पर बन जाय तो यदि दोष का दर्जा इसकी सीमा तक का हो तो यह नियंठा उत्कृष्ट जीवन भर भी रह सकता है । यह नियंठा भी तीन शुभ लेश्या के रहने पर ही रहता है । अशुभ लेश्या के परिणाम होते ही इस नियंठे वाला असंयम में पहुँच जाता है । इस निर्ग्रन्थ के दोष सेवन में ज्ञान दर्शन आदि के निमित्त की प्रमुखता न रह कर शिथिल वृति की प्रमुखता होती है अत: इसमें ज्ञानादि की अपेक्षा से भेद नहीं करके प्रवृति की अपेक्षा ५ भेद कहे गये हैं ।

१. आभोग बकुश- संयम विधि का, शास्त्र की आज्ञा का, तथा शिथिल प्रवृतियों का व उनकी उत्पति के स्वरूप का जानकार अनुभवी होते हुए शिथिल मानस एवं लापरवाही से शिथिल प्रवृति करने वाला **आभोग बकुश** कहलाता है ।

२. अनाभोग बकुश- जो चली आई हुई प्रवृत्ति के अनुसार, देखा-देखी, संगति के अनुसार, शिथिल प्रवृतियाँ करता है । जिसने शास्त्राज्ञा को नहीं समझा है, अत: अपनी प्रवृति को ठीक समझकर या बिना कुछ समझे विचारे करता है, वह **अनाभोग बकुश** कहलता है ।

३. संवुड बकुश- इस नियंठे के दर्जे की प्रवृत्तियों को गुप्त रूप से करे विशेष प्रगट रूप में नहीं करे वह **संवुड बकुश** कहलाता है ।

४. असंवुड बकुश- दुस्साहस और प्रवृत्ति के बढ़ जाने से नि:संकोच होकर प्रगट रूप से उन प्रवृत्तियों को करने वाला **असंवुड बकुश** कहलाता है ।

५. यथासूक्ष्म बकुश– विभूषा आदि की चालू प्रवृत्तियों को लिहाज, दबाब आदि से सेवन करे तथा निष्कारण औषध सेवन, विगय सेवन एवं नशीले पदार्थ का सेवन करे । किसी भी चीज के प्रति लगाव रखे । आलस–निद्रा, प्रमाद में अनावश्यक अमर्यादित समय खर्च करे । संयम प्रवृत्तियों को अविधि अविवेक व उतावल से करने की प्रवृत्ति रखे । रसाशक्त बने और अनावश्यक अमर्यादित पदार्थों का सेवन करे, इत्यादि अनेक प्रवृत्तियाँ करने वाला ''यथासूक्ष्म बकुश'' कहलाता है अर्थात् जिन प्रवृत्तियों से विनय, वैराग्य, इन्द्रिय दमन, इच्छानिरोध, ज्ञान, तप आदि संयम गुणों के विकास में बाधा पड़ती है, उन प्रवृत्तियों को करने वाला **यथा सूक्ष्म बकुश** कहा जाता है ।

३. प्रतिसेवना कुशील– यह नियंठा भी संयम ग्रहण के प्रारम्भ में नहीं आता है । कुछ संयम पर्याय के बाद व पुलाक के उत्कृष्ट संयम पर्याय से अनंत गुण अधिक पर्यव हो जाने पर कभी भी सकारण मूल गुण में या उत्तर गुण में अमुक सीमा के दोष सेवन करने पर यह नियंठा आता है । इस नियंठे वाले के दोष सेवन में शिथिल मानस की मुख्यता न होकर किसी प्रकार की लाचारी, असहनीय स्थिति, अथवा क्वचित् प्रमाद, कुतुहल, दर्प तथा अशुद्ध समझ होती है तथा ज्ञान आदि पाँच के निमित्त से दोष का सेवन किया जाता है ।

इस नियंठे के दोष के दर्जे बकुश के दोषों से आगे के दर्जे के भी होते हैं । किन्तु शिथिलाचार मानस रूप में न होकर उपरोक्त लाचारी आदि कारण से या ज्ञानादि के निमित से होते है । लगे दोष की शुद्धि कर लेने पर यह नियंठा नहीं रहता है और विशुद्ध कषाय कुशील नियंठा आ जाता है । लगे दोष की शुद्धि तो नहीं करे किन्तु दोष रहित शुद्ध संयम के पालन में तत्पर हो जाए तो उसके यह नियंठा बना रहता है । लगे दोष की शुद्धि न करे और वह दोष प्रवृति भी चालू रहे किन्तु उसके अतिरिक्त शुद्ध संयम अराधना में लग जाए तो भी यह नियंठा बना रह सकता है । तथा यदि दोष का दर्जा इस नियंठे की सीमा तक का हो और प्रवृति में शिथिलता का मानस न हो तो जीवन भर भी यह नियंठा रह सकता है। शुभ तीन लेश्या की मौजूदगी में ही यह नियंठा रहता है । अशुभ लेश्या के

आते ही इसे असंयम दशा प्राप्त हो जाती है । इसका कारण यह है कि दूहरा(डबल) भार आने पर संयम नहीं रहता अर्थात् एक तो दोष सेवन करना और दूसरा परिणाम भी अशुभ करना, यह अक्षम्य हो जाता है । इसी कारण ये तीनों नियंठे प्रतिसेवी होने से शुभ लेश्या में ही रह सकते हैं । इस प्रतिसेवना कुशील नियंठे के भी पुलाक के समान निमित की अपेक्षा से ५ प्रकार कहे गये हैं–

१. ज्ञान प्रतिसेवना कुशील– ज्ञान सीखने, सीखाने व प्रचार करने इत्यादि ज्ञान से सम्बन्धित प्रसंगों से मूल गुण या उत्तरगुण में दोष लगावे । यथा–पुस्तकें आदि खरीदे, मंगावे, दोषयुक्त ग्रहण करे, सवेतनिक(साधु के लिये वेतन दिया जाता हो ऐसे) पंडित से पढ़े । लहियों आदि से लिखाना, छपाई के कार्य में भाग लेना इत्यादि अनेक मर्यादाओं का ज्ञान के लिए भंग करना । इन दोष प्रवृत्तियों वाला **ज्ञान प्रतिसेवना कुशील** निर्ग्रन्थ कहलाता है ।

२. दर्शन प्रतिसेवना कुशील– शुद्ध–श्रद्धा के प्राप्ति या प्रचार के लिये, दर्शन विषयों के अध्ययन के लिये जो मूल गुण या उत्तर गुण में दोष का सेवन करे वह **दर्शन प्रतिसेवना कुशील** कहलाता है ।

३. चारित्र प्रतिसेवना कुशील– चारित्र की प्रवृत्तियों के पालन करने में, पालन कराने में और पालन करने वालों को तैयार करने में, किसी प्रकार का मूल गुण या उत्तरगुण का दोष लगावे, तथा चारित्र पालन का साधन शरीर है इससे फिर ज्यादा संयम गुणों की वृद्धि होगी, इस भावना से दोष सेवन करे, इस तरह चारित्र के निमित से दोष सेवन करने वाला **चारित्र प्रतिसेवना कुशील** निर्ग्रन्थ कहलाता है।

४. लिंग प्रतिसेवना कुशील– लिंग के विषय में अर्थात् वेषभूषा के सम्बन्ध से तथा साधुलिंग के आवश्यक उपकरण वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि है उनके निमित से दोष लगावे तथा लिंग सम्बन्धी किसी प्रकार की भगवदाज्ञा का उल्लंघन करे वह **लिंग प्रतिसेवना कुशील** निर्ग्रन्थ कहलाता है ।

५. यथासूक्ष्म प्रतिसेवना कुशील– यह पाँचवाँ भेद सभी नियंठों में शेष बचे हुए विषय को संग्रह करने की अपेक्षा कहा गया है ।

अर्थात् पूर्व के चार भेदों में जिन प्रवृत्तियों, अवस्थाओं का समावेश नहीं हो ऐसी उन नियंठे के दर्जे की शेष अवस्थाओं को कहने वाला यह पाँचवाँ भेद सूत्र में कहा गया है ।

पौद्गलिक सुख की लालसा से, इच्छा पूर्ति के लिये, कष्ट सहन नहीं कर सकने से, अपनी बात रखने के लिये, मान कषाय आदि के पोषण के लिये, क्षेत्र या श्रावक आदि रूप परिग्रहवृत्ति की भावना से, दूसरों के लिहाज दबाव से, अशुद्ध समझ से, जैसे कि "उपकार होगा" इत्यादि से मूलगुण या उत्तर गुण में दोष लगावे, भगवदाज्ञा से विपरीत प्रवृति करे, वह यथासूक्ष्म प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ कहलाता है तथा जो साधु "मकान–पाट, पानी पात्र आदि में आधाकर्मी या क्रीत आदि दोष लगते ही है" ऐसी मनोवृत्ति रखते हुए इन पदार्थों की गवेषणा और उपभोग करता है, इसके अतिरिक्त शुद्ध संयम का पालन करता है तो भी वह **यथासूक्ष्म प्रतिसेवना कुशील** कहलाता है।

तुलनात्मक परिचय :– ये तीनों नियंठे संयम ग्रहण करने के समय नहीं आते हैं । ये तीनों प्रतिसेवी नियंठे है अर्थात् इनका संयम शुद्ध नहीं होता है । इन तीनों नियंठों में परिणाम–लेश्या तीन शुभ ही रहती है । जबकि कषाय कुशील नियंठे में शुभ–अशुभ ६ ही लेश्या में संयम भाव टिकता है। परन्तु इन तीनों नियंठों के यदि कभी अशुभ लेश्या आ जाय तो नियंठा तत्काल असंयम में परिवर्तित हो जाता है ।

पुलाक नियंठा वाला मूल गुण या उत्तर गुण में दोष लगावे तो भी उसके संयम रहता है किन्तु अंतर्मुहूर्त बाद तक दोष अवस्था रहे तो संयम नहीं रहता है । बकुश नियंठा शिर्फ उत्तरगुण के दोष तक में जीवन भर रह सकता है परन्तु इसके उत्तरगुण के दोषों की भी जो सीमा है उसका उल्लंघन कर जाय तो वह असंयम में चला जाता है । क्यों कि यह नियंठा शिथिलाचार प्रवृति रूप होता है अतः दोष लगाने में कोई कारण, परिस्थिति, अशक्यता, लाचारी, खेद आदि की मुख्यता न होने से इसमें सूक्ष्म दोषों तक ही संयम टिक सकता है, दोष की सीमा बढ़ने पर असंयम आ जाता है । अतः केवल उत्तरगुण प्रतिसेवना में ही यह नियंठा टिकता है ।

एक द्दष्टांत– जिस प्रकार पानी की बडी कोठी या टंकी का मालिक यदि लापरवाह वृति वाला है और उसमें बारीक तराड़ें हो जाय, पानी निरंतर निकले तो भी बहुत समय तक काम चल सकता है, ठीक कराने का ध्यान नहीं करे तो भी पानी संरक्षण और वितरण का कार्य बंद नहीं होता है । परन्तु यदि वे तराड़ें चौड़ी हो जाने पर भी लापरवाही चलावे तो पानी ज्यादा निकल जायेगा और सारी व्यवस्था बिगड़ जाएगी । इसी तरह बकुश के दोष की तराड़े बड़ी होने लग जाय तो संयम अवस्था खराब होकर असंयम हो जायेगा ।

प्रतिसेवना कुशील नियंठा मूल गुण और उत्तरगुण दोनों तरह के अमुक सीमा के दोष सेवन तक जीवन भर भी रह सकता है । इसमें शिथिलता और लापरवाही न होकर कोई कारण दशा की मुख्यता होती है । परिस्थिति, लाचारी, अशक्यता अथवा दोष का खेद खटक मन में रहने से बकुश की अपेक्षा कुछ बड़े(सीमा के) दोषों के सेवन में भी इसका संयम टिक सकता है । इस नियंठे वाला दोष के समाप्त होते ही शुद्धि की भावना रखता है और शुद्धि करता है । फिर भी कभी कोई प्रसंग, परिस्थिति, लंबे समय के लिये आ जाय या आजीवन के लिये भी आ जाय तो भी इसकी सीमा का दोष होने पर यह नियंठा जीवन भर भी रह सकता है ।

इसके लिये छिद्र वाली टंकी का द्दष्टांत समझना अर्थात् उसमें बोर, मोसंबी आदि जितने बड़े छिद्र हो जाय और उसको साधन जुटाकर ठीक करे तब तक कुछ समय लग सकता है और फिर छिद्र बंद कर देने से टंकी पुनः व्यवस्थित हो जाती है अथवा उस टंकी में खस–खस जितने अत्यंत छोटे कुछ छिद्र हो जाय और ठीक नहीं करे तो भी लंबे समय तक काम चल सकता है । क्यों कि उन टंकियों में पानी के आवक की अपेक्षा छोटे–छोटे छिद्रों से निकलने वाला पानी नगण्य हो जाता है । उसी तरह प्रतिसेवना नियंठे में अन्य ज्ञान दर्शन चरित्र की बहुत पुष्टि चालू रहे तो इसके ये कुछ दोष सेवन नगण्य होकर संयम रह जाता है ।

अतः संयम में किसी भी प्रकार का छोटा या बड़ा दोष लगाने

वालों को इतनी सावधानी रखने कि आवश्यकता है कि उस दोष के अतिरिक्त तप, संयम, ज्ञान आदि की शुद्ध आराधना रखे, प्रढपणा श्रद्धा शुद्ध रखे, भावों की पूर्ण शुद्धि रखे, किसी के प्रति मलीन विचार न हो । लेश्याओं के स्वरूप को समझ कर तीन अशुभ लेश्याओं को किंचित भी नहीं आने दे, दोष का दर्जा आगे न बढ़ पावे, यह सदा ध्यान रखे, शुद्धि करने की भावना और खेद रखे, तो वह नियंठे के दर्जे में रह सकता है, अन्यथा इन सावधानियों के न रहने पर वह असंयम में पहुँच जाता है ।

क्रमिक अपेक्षा से तो बकुश से प्रतिसेवना नियंठा ऊँचा होता है तथा पुलाक से बकुश के चरित्र पजवे अनंत गुण अधिक है और बकुश के उत्कृष्ट पज्जवों से प्रतिसेवना कुशील के उत्कृष्ट पज्जवे अनंतगुणे हैं । और अन्य अपेक्षा से दोनों आपस में **छट्ठाणवडिया** होने से व्यक्तिगत कोई बकुश किसी प्रतिसेवना कुशील से ऊँचे दर्जे में भी हो सकता है ।

इन दोनों नियंठों के असंयम में पहुँचने रूप खतरे की स्थिति सदा बनी रहती है । लेश्या अशुभ आ जाय या संयम पर्यव की वृद्धि बराबर न होवे या पुलाक के उत्कृष्ट चरित्र पजवों से अनंत गुण अधिक संयम पर्यव न रहे तो भी असंयम दशा आ जाती है । दोष की प्रवृत्ति सीमा के क्षम्य दोष से आगे बढ़ जावे तो भी असंयम में चला जाता है ।

जीव को प्रारंभ में एक बार तो कषाय कुशील नियंठा आने पर ही फिर ये दोनों नियंठे आ सकते हैं । इसके बाद में इन दोनों का असंयम में सीधे आना जाना हो सकता है । तथा इन दोनों नियंठों का आपस में भी आना-जाना छट्ठे-सातवें गुणस्थानवत् चालू रहता है। सावधानियाँ बराबर रहे तो इन नियंठों वाले असंयम में नहीं जाते हैं।

दोष का दर्जा सूक्ष्म उत्तरगुण तक रहे तो शिथिल मानसता में बकुश नियंठा रह जाता है, और शिथिल मानस के बिना परिस्थिति या आवश्यकता से सीमित मूल गुण या उत्तर गुण के दोष तक में **प्रतिसेवना कुशील नियंठा** रह जाता है ।

बकुश के दोष के दर्जे छोटे (सूक्ष्म) होने से शिथिलाचारता टिकती है तो प्रतिसेवना के दोष के दर्जे उससे आगे के बड़े होने से शिथिलाचारता अक्षम्य होने से संयम नहीं टिक सकता है तो पुलाक में आवेश की तीव्रता आदि कारणों से उत्तर गुण दोष हो या मूल गुण दोष हो, अंतर्मुहूर्त से ज्यादा संयम नहीं रह सकता है ।

दोष सेवन होते हुए भी ये तीनों नियंठे अपनी सीमा में हो तो क्षम्य है और आगमकार उन्हें निर्ग्रन्थ स्वीकार करते हैं । अत: ये वंदनीय है । वैमानिक के सिवाय किसी भी गति में नहीं जाते है । सीमित दोष के सिवाय संपूर्ण ज्ञान दर्शन चरित्र की आराधना में और भगवदाज्ञा में सावधान रहने से जीवन भर भी वे निर्ग्रन्थ दशा में रह सकते हैं। खतरों से सावधानी नहीं रखे तो उनके दोष अक्षम्य हो जाने पर वे भाव से असंयम में पहुँच जाते हैं ।

पुलाक के संयम पर्यव अत्यधिक ह्रास होने में मशक के मुख खोलने का दृष्टांत ठीक घटित होता है । बकुश के संयम पर्यव कम होने में पानी की टंकी में तराड़े पड़ने का दृष्टांत ठीक लागू पड़ता है और प्रतिसेवना कुशील के लिए पानी की कोठी में छिद्र होने का दृष्टांत ठीक घटित होता है और इन तीनों दृष्टांतो से इनका स्वरूप सरलतापूर्वक समझ में आ जाता है । टंकी के उपर के मुख से पानी भरा जाता है वैसे ही बकुश प्रतिसेवना में संयम पर्यव रूप पानी भरता रहता है साथ ही थोड़ा निकलता रहता है । मशक में नीचे के मुख से पानी शीघ्र निकल जाता है और उपर के मुख से पुन: भर दिया जाता है । वैसे ही पुलाक में शीघ्र संयम पर्यव खाली होते हैं और कुछ शेष रहने तक में वापिस कषाय कुशील में आकर संयम पर्यव का बढ़ना चालू हो जाता है ।

कषाय कुशील नियंठा– संयम ग्रहण के प्रारंभ में प्रत्येक जीव को यही नियंठा आता है । इस नियंठे वाला संयम में किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगाता है । कोई भी दोष लगाने पर यह नियंठा नहीं रहता है । यदि संयम ग्रहण करते समय से ही कोई मूल गुण या उत्तर गुण में दोष लगाने वाले गुढ के पास दीक्षा लेता है और पहले दिन

से ही छोटे या बडे दोष चालू होते हैं तो उसको यह नियंठा प्रारंभ से ही नहीं आता है और इस नियंठे के आए बिना अन्य कोई भी नियंठा नहीं आता है। अतः वैसा साधक प्रारंभ से ही संयम रहित वेष मात्र का साधु बनता है और जीवनभर उन दोषों के रहते वह सदा वेष मात्र का ही साधु रहता है । वैसे में वह जो भी गुणों की वृद्धि करता है, ब्रह्मचर्य, रात्रिचौविहार, तपस्या आदि करता है वे सब उसके लिये पाँचवें गुणस्थान के संवर निर्जरा रूप होते हैं । श्रद्धा प्ररूपण गलत हो तो प्रथम गुणस्थानवर्ती संवर निर्जरा अभवी के जैसे होते रहते हैं एवं पुण्य संचय और शुभ परिणामों से सद्गति में जा सकता है ।

यह कषाय कुशील निर्ग्रन्थ महाव्रत, समिति, गुप्ति, संयमाचार में किंचित भी अतिचार या अनाचार का सेवन नहीं करता है । इस नियंठे मे केवल सीमित दर्जे के क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं एवं विनष्ट हो जाते हैं । अर्थात् संज्वलन के कषाय का उदय अप्रकट या कभी शारणा वारणा या अन्य प्रसंग से प्रगट रूप में भी हो जाता है ।

वह कषाय, कषाय तक ही सीमित रहता है, महाव्रत समिति आदि के दोष में नहीं पहुँचता है तथा संज्वलन की सीमा का भी उल्लंघन नहीं करता है । ***सीमा यह है कि कषाय आने के समय वह मंद या तेज कैसा भी दिखे पर ज्यादा समय नहीं टिकता है किन्तु पानी की लकीर के मिट जाने के समान शीघ्र शांत हो जाता है । पानी की लकीर बारीक भी हो सकती व विशाल भी हो सकती परन्तु उसकी विशेषता यही है कि वह मिटती तुरंत है ।*** उसी तरह दिखने में कषाय उग्र या मंद कैसा भी दिखे किन्तु जल्दी ही दिमाग शांत हो जाये, कषाय अवस्था हट जावे, बस यही संज्वलनता की पहिचान है ।

इस नियंठे में ६-७-८-९-१० ये पाँच गुणस्थान हो सकते हैं, छठे के सिवाय तो आगे के अप्रमत्त गुणस्थानों में प्रकट कषाय भी नहीं होती किन्तु अप्रकट उदय चालू होने से वे भी कषाय कुशील निर्ग्रन्थ कहलाते हैं । बकुश और प्रतिसेवना नियंठे में गुणस्थान दो होते हैं, छट्ठा और सातवाँ । पुलाक में केवल छट्ठा गुणस्थान ही होता है ।

कई दोष, दोष होते हुए भी क्षम्य दर्जे के होते हैं उनसे इस नियंठे

में बाधा नहीं आती है । यथा- अनजान से दोष युक्त आहार पानी खाने-पीने में आ गया हो, रास्ते में वर्षा आ गई हो, दोष लगाने वाले की सेवा की हो या उससे सम्बन्ध रखा गया हो, इत्यादि कुछ अनजानता और परिस्थितियों के दोष नगण्य हो जाते हैं और वहाँ यह नियंठा रह भी सकता है । उसके सिवाय अपने-अपने दर्जे के दोष से बकुश अथवा प्रतिसेवना नियंठा या असंयम आ जाता है । इस नियंठे के भी पाँच प्रकार, निमित की अपेक्षा से कहे गये हैं, यथा-

१. ज्ञान कषाय कुशील- ज्ञान सीखने में, सीखाने में, प्रेरणा या प्रचार करने आदि किसी भी प्रसंग से संज्वलन के उदय से प्रमत्त दशा में प्रकट रूप से संज्वलन की कषाय अवस्था आ जाय वह **ज्ञान कषाय कुशील** कहलाता है ।

२. दर्शन कषाय कुशील- दर्शन श्रद्धा के विषयों को समझाने समझने व शुद्ध श्रद्धा के प्रेरणा प्ररूपणा में, किसी प्रसंग में संज्वलन के उदय से, प्रमत्त दशा में, प्रकट रूप से संज्वलन की कषाय अवस्था आ जाय, वह **दर्शन कषाय कुशील** कहलाता है ।

३. चारित्र कषाय कुशील- चरित्र की प्रवृत्ति या सेवा कार्य करने में, कराने में इत्यादि चरित्र विधि के नियमों के निमित से, किसी प्रसंग में, संज्वलन के उदय से, प्रमत्त दशा में, प्रकट रूप से संज्वलन कषाय की अवस्था आ जाय, वह **चारित्र कषाय कुशील** कहलाता है ।

४. लिंग कषाय कुशील- शुद्ध लिंग वेश भूषा से खुद रहने में, दूसरों को रखने में इत्यादि लिंग के सम्बन्ध में या उसके उपकरणों के सम्बन्ध में, किसी प्रसंग से, संज्वलन के उदय से, प्रमत्त दशा में, प्रगट रूप से संज्वलन कषाय की अवस्था आ जाय, वह **लिंग कषाय कुशील** कहलाता है ।

५. यथासूक्ष्म कषाय कुशील- परिशेष विषय की अपेक्षा से शास्त्रकार यह पाँचवाँ भेद करते हैं । अतः जिनका समावेश चार भेद में नहीं हो सकता वे इस भेद में ग्रहित हो जाते हैं । तदनुसार जिनको किसी भी निमित से, प्रकट कषाय दशा न हो, केवल उदय मात्र से अप्रकट कषाय होने से छट्ठे प्रमत्त गुणस्थान वाले और ७-८-९-१० वें

अप्रमत्त गुणस्थानों वाले सभी **यथासूक्ष्म कषाय कुशील** कहलाते हैं तथा किसी प्रकार के छोटे बड़े अनुकूल प्रतिकूल परीषह उपसर्ग सहन नहीं होने से, खान-पान, रहन-सहन में अपने अनुकूल प्रवृत्ति नहीं होने से, अपनी इच्छा या आज्ञा से विपरीत कार्य होने से, साथी के निमित्त से अर्थात् किसी से कोई गल्ती हो जाने पर इत्यादि परिशेष निमित्तों से, किसी प्रसंग में, संज्वलन के उदय से, प्रमत्त दशा में, प्रगट रूप से संज्वलन कषाय अवस्था आ जाय, वह भी **यथासूक्ष्म कषाय कुशील** कहलाता है ।

इस नियंठे का कषाय संज्वलन दशा से आगे बढ़ जाय या उस कषाय के कारण विनय, विवेक, संयम प्रवृतियों में, समिति आदि में दोष की स्थिति हो जाय तो वह कषाय कुशील नियंठा नहीं रह सकता, वह अन्य नियंठों में या असंयम में परिवर्तित हो जाता है ।

वर्तमान काल में तीन नियंठे संयम अवस्था में आ सकते हैं– (१) बकुश (२) प्रतिसेवना (३) कषाय कुशील ।

५. निर्ग्रन्थ नियंठा– यह नियंठा ११ वें १२ वें गुणस्थान में होता है। इसमें कोई प्रकार का दोष सेवन या कषाय उदय कुछ भी नहीं होता। अकषाय दशा होने से वीतराग कहलाते है और ज्ञानावरणीय आदि का क्षय न होने से व उदय होने से छदमस्थ कहलाते हैं । चार नियंठो के ५–५ भेद की शैली का अनुकरण करते हुए इसके भी पाँच भेद किये हैं परंतु भेद बनने का कोई निमित्त प्रतिसेवना और कषाय तो यहाँ नहीं रहे हैं । किसी के कषाय पूर्ण उपशांत है, किसी के पूर्ण क्षय है । किन्तु यह नियंठा अशास्वत है, इसलिये उस अपेक्षा को लेकर इसके पाँच भेद किये हैं । वे इस प्रकार है–

१. किसी समय एक भी निर्ग्रन्थ लोक में नहीं होते हैं और होते हैं तो किसी विवक्षित समय में सभी शीर्फ प्रथम समयवर्ती होते हैं **२.** किसी विवक्षित समय में सभी शीर्फ अप्रथम समयवर्ती होते हैं अथवा **३.** किसी विवक्षित समय में सभी केवल चरम समयवर्ती ही होते हैं **४.** किसी विवक्षित समय में सभी केवल अचरम समयवर्ती ही होते हैं और **५.** किसी विवक्षित समय में द्विसंयोगी आदि भंग से

भी होते हैं। इस तरह पाँच भेदों का अर्थ समझना चाहिए ।

पाँच की संख्या मिलाने की शैली के अतिरिक्त व्यक्ति की अपेक्षा भी इसके अनेक प्रकार से दो दो भेद हो सकते है और सरलता से समझ में भी आ सकते हैं यथा–**१.** उपशांत कषाय निर्ग्रन्थ और क्षीण कषाय निर्ग्रंथ । ऐसे ही प्रथम समय का निर्ग्रंथ और **२.** अप्रथम समय का निर्ग्रन्थ । ऐसे ही **१.** चरम समय का निर्ग्रन्थ और **२.** अचरम समय का निर्ग्रन्थ । इस प्रकार व्यक्तिगत अपेक्षा से तो दो दो भेद ही बन सकते हैं । सूत्रोक्त पाँच भेद तो अशास्वतता को ध्यान में लेकर संसार के समस्त जीवों की अपेक्षा है जो उपरोक्त तरीके से बन भी जाते हैं और समझ में भी आ जाते हैं । वे सूत्रोक्त पाँच भेद इस प्रकार हैं –

१. प्रथम समयवर्ती निर्ग्रन्थ २. अप्रथम समयवर्ती निर्ग्रन्थ ३. चरम समयवर्ती निर्ग्रन्थ ४. अचरम समयवर्ती निर्ग्रन्थ ५. यथासूक्ष्म निर्ग्रन्थ अर्थात् द्विसंयोगी आदि अवस्थाएँ ।

६. स्नातक नियंठा :– चार घाती कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने पर यह नियंठा आता है और केवलज्ञान, केवलदर्शन युक्त दो गुणस्थान (१३–१४) में पाया जाता है । यहाँ पर भेद बनने में कोई दोष का निमित्त भी नहीं है, कषाय का निमित्त भी नहीं है, तथा आश्स्वतता भी नहीं है अर्थात् यह नियंठा शास्वत है । इस नियंठे वालों में एक ही संयम स्थान समान रूप से होता है । आत्मगुण, ज्ञान दर्शन भी सब का समान होता है । अतः भेद बनने में कोई भी कारण नहीं है। फिर भी ५ की संख्या शैली का अनुसरण करते हुए शास्त्रकार ने ५ प्रकार कहे हैं, जो अलग–अलग पाँच गुणों के संग्राहक रूप में है किन्तु भेद रूप नहीं है यथा––

१. अछवि– योग निरोध अवस्था में काय योग के अभाव में यह गुण(अवस्था) प्रगट होता है । **२. असबले–** सम्पूर्ण दोष रहित संयम अवस्था ही प्रारंभ से होती है । **३. अकम्मंसे–** चार घाती कर्म से रहित अवस्था प्रारंभ से ही होती है। **४. संसुद्ध णाणदंसण धरे–** प्रारंभ से विशुद्ध ज्ञान दर्शन के धारी होते हैं ।

५. अपरिश्रावी– इस निर्ग्रन्थ के योग निरोध करने के बाद जब शाता वेदनीय का बंध भी ढक जाता है तब यह 'अक्रिया अवस्था' प्राप्त होती है ।'

इस तरह भगवती सूत्र श. २५ उ. ६ के आधार से चिंतन पूर्वक यह छः निर्ग्रन्थों का व्याख्यान किया गया है । भगवती के उस वर्णन में यह भी बताया गया है कि बकुश और प्रतिसेवना दोनों दोष लगाने वाले नियंठे लोक में शास्वत रहते हैं एवं कम से कम भी अनेक सौ करोड़ सदा मिलते हैं ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि महाविदेह क्षेत्र में भी मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाने वाले निर्ग्रन्थ कम से कम अनेक सौ करोड़ सदा शास्वत मिलते हैं जिन्हें भगवती आगम निर्ग्रन्थ रूप में स्वीकार करता है और जो निर्ग्रन्थ होते है उनमें छठवाँ गुणस्थान या उससे उपर के कोई भी गुणस्थान होते हैं । अतः वे सभी मूल गुण उत्तरगुण के दोषी भी वंदनीय निर्ग्रन्थ है । यदि वे उपरोक्त बकुश प्रतिसेवना निर्ग्रन्थ की सूक्ष्म और स्थूल सभी परिभाषाओं में सत्य सिद्ध हो सके ।

अर्थात् (१) दोष कम संयम तप पुष्टि ज्यादा (२) दोष सेवन और यथासमय प्रायश्चित्त (३) परिस्थिति से दोष सेवन करते हुए भी मन में खेद–खटक एवं संयम लक्ष्य की जागरूकता रहे (४) दीक्षा लेते ही दोष सेवन नहीं किन्तु कुछ समय पूर्ण दोष रहित संयम (५) चारित्र पर्यव–चारित्र धन, पुलाक के उत्कृष्ट पर्यव से भी सदा अनंत गुण अधिक ही रहे कम नहीं होवे (६) लेश्या तीन अशुभ कभी नहीं आवे (७) आचार का प्ररूपण–निरूपण आगम संमत रहे, मनमानी आगम निरपेक्ष स्वच्छंद प्ररूपण नहीं होवे (८) कषाय–क्रोध,मान, माया, लोभ, संज्जवलन के रहे अर्थात् अल्पतम समय में कषायभाव परिवर्तित हो जावे, ज्यादा लंबे समय कषाय नहीं रहे, नहीं टिके तथा किसी भी व्यक्ति के प्रति नाराजीभाव, रंजभाव, अनबना, अक्षमाभाव ज्यादा देर नहीं रहे, समभाव, क्षमाभाव में ज्ञान वैराग्य से हृदय को शीघ्र पवित्र शांत बना लेवे । इतनी सारी सभी शर्तों–कसोटियों में पास होवे तो वह अमुक दोष युक्त अवस्था में भी

निर्ग्रंथ और संयम गुणस्थानवर्ती रह सकता है, तभी भाव वंदनीय निर्ग्रंथ रहेगा ।

अतः प्रत्येक साधक को इस विषद् विवेचन से सही समझ बना कर आत्म निरीक्षण करना चाहिए एवं सही प्ररूपण ही करना चाहिए । साथ ही संयम आराधना करनी हो तो इस विशद विवेचन में सूचित सावधानियों का सतर्कता से आचरण करना चाहिए ।

निबंध–८

संयमोन्नति के १० आगम चिंतन कण

(१) जिस वैराग्य भावना एवं उत्साह से संयम लिया है उसी भावना एवं उत्साह से मुनि अन्य सभी संकल्प रूपी बाधाओं को दूर करते हुए सदा संयम का पालन करे । ***–आचा॰१–१–३, दशवै॰अ॰८,गा॰६१।***

(२) किसी व्यक्ति को यह(या वह) कुशीलिया है, शिथिलाचारी है, आचार भ्रष्ट है इत्यादि न कहो और अपनी बढ़ाई भी नहीं करो । किसी को गुस्सा आवे वैसा अन्य भी निंदक शब्द नहीं बोलो ।***–दशवै॰ अ॰१०, गा॰ १८ ।***

(३) जो दूसरों की हीलना, निंदा, तिरस्कार इन्सल्ट करता है, हल्की लगाने व नीचा गिराने की हीन भावना करता है, वह महान संसार में परिभ्रमण करता है । क्यों कि यह पर निन्दा पापकारी वृति है । ***–सूय॰ अ॰ २, उद्दे॰ २, गा॰ २ ।***

(४) भिक्षु को भली-भाँति विचार कर क्षमा, सरलता, निर्लोभता नम्रता, हृदय की पवित्रता, अहिंसा, त्याग तप व्रत, नियम आदि विषयों पर प्रवचन देना चाहिए । उसमें अन्य किसी की भी अवहेलना आशातना नहीं करना चाहिए । ***–आचा॰ १–६–५, प्रश्न॰२।*** अन्य किसी साधु की या गृहस्थ की किसी भी प्रकार की आशातना करने पर चौमासी प्रायश्चित्त आता है । **–निशीथ॰ उद्दे॰१३ और १५।**

(५) सरलता धारण करने पर ही आत्मा की शुद्धि होती है एवं आत्मा में धर्म ठहरता है । माया झूठ–कपट के संकल्पों से धर्म आत्मा में से निकल जाता है ।**–उत्तरा॰ अ॰३, गा॰ १२ ।**

(६) स्वाध्याय और ध्यान में लीन रहता है, वही सच्चा भिक्षु है- **दशवै॰ १० ।** भिक्षु निद्रा एवं बातों में ज्यादा रूचि न रखें तथा हंसी ठट्ठा न करे किन्तु सदा स्वाध्याय-अध्ययन आदि में रत(लगा) रहे। **-दशवै॰८, गा॰ ४२ ।**

(७) जो बहुत बड़ी तपस्याएँ करता है अथवा जो बहुश्रुत एवं विशाल ज्ञानी है फिर भी यदि वह गुस्सा, घमण्ड, माया-प्रपंच ममत्व परिग्रह वृत्ति करता है तो वह तीव्र कर्मों का बंध करता है एवं अनंत जन्म मरण बढ़ाता है । **-दशवै. ८ ।- सूय॰१ अ॰२, उ॰१, गा॰ ७, ६।**

(८) जो भिक्षु संयम लेने के बाद महाव्रतों का तीन करण तीन योग से शुद्ध पालन नहीं करता, समितियों के पालन में कोई भी विवेक या लगन नहीं रखता है, खाने में गृद्ध बना रहता है, आत्म नियंत्रण नहीं करता है वह जिनाज्ञा में नहीं है, कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता । वह चिरकाल तक संयम के कष्टों को झेलते हुए भी संसार से पार नहीं हो सकता । वह वास्तव में अनाथ ही है । **-उत्तरा॰अ॰२०,गा॰३६,४१।**

(९) कंठ छेदन करने वाला अर्थात् प्राणांत कर देने वाला व्यक्ति भी अपना इतना नुकशान नहीं कर सकता जितना कि गलत विचारों और गलत आचरणों में लगी हुई अपनी आत्मा ही अपना नुकशान करती है । **-उत्तरा॰ अ॰२०, गा॰ ४८ ।**

(१०) सदा सोते समय और उठते समय अपने अवगुणों का, दोषों का चिंतन कर-कर के छांट-छांट के उन्हें निकालते रहना चाहिए और शक्ति का विकाश एवं उत्साह की वृद्धि कर संयम गुणों में पुढषार्थ करना चाहिए । इस प्रकार आत्म सुरक्षा करने वाला ही लोक में प्रतिबुद्धजीवी है और वह जन्म-मरण के चक्कर में नहीं भटकता । **-दशवै॰ चू॰ २, गा॰ १२ से १६ ।** जो गुणों से सम्पन्न होकर आत्म गवेषक होता है वह भिक्षु है । **-उत्तरा॰ अ॰१५, गा॰ १५ ।**

निबंध-९

साध्वाचार के आवश्यक आगम निर्देश

१८ पाप त्याग, ५ महाव्रत पालन, ५ समिति पालन, ५२ अनाचार वर्जन आदि अनेक आचार निर्देश प्रसिद्ध है । फिर भी इनसे

निकट सबन्ध वाले कुछ आगम विषयों का संग्रह इस प्रकार है-

१. जो परिभवइ परं जणं, संसारे परिवत्तइ महं ।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी न मज्जइ ॥
-सूय॰श्रु॰१ अ॰२, उ॰२, गा॰२ ।

दूसरों की निन्दा करना, पराभव (अवहेलना आदि) करना पाप है । ऐसा करने वाला महान संसार में परिभ्रमण करता है ।

२. न परं वइज्जासि अयं कुसीले जेणं च कुप्पिज्ज न तं वइज्जा। दशवै॰ अ॰ १० गा॰ १८।

यह कुशीलिया है, ऐसा नहीं बोलना और जिससे दूसरों को गुस्सा आवे वैसे निंदक शब्द भी नहीं बोलना ।

३. निद्दं च न बहु मणिज्जा, सप्पहासं विवज्जए ।
मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया ॥- दशवै.अ.८ गा.४८

आपस में बातें करने में आनन्द नहीं आना, स्वाध्याय में सदा लीन रहना, निद्रा को ज्यादा आदर नहीं देना और हंसी ठट्ठा का त्याग करना ।

४. मुँह फाड़-फाड़कर अर्थात् आवाज करते हुए हंसने से प्रायश्चित्त आता है । **निशीथ-४ ।**

५. प्रतिलेखन करते हुए आपस में बातें करना नहीं, पच्चक्खाण भी कराना नहीं ।**-उत्तरा. अ. २६ गा.२६ ।**

६. सुबह शाम दोनों वक्त उपधि प्रतिलेखन करना । **आव. ४ ।** पात्र पुस्तक आदि किसी भी उपकरण की एक ही बार प्रतिलेखन करने का कोई भी आगम प्रमाण नहीं है । मात्र परम्परा को आगम पाठ के सामने महत्वहीन समझना चाहिये ।

७. चारों काल में स्वाध्याय नहीं करे तो चौमासी प्रायश्चित्त । **निशीथ॰ उद्दे. १९ ।**

आव॰ ४- असज्झाए सज्झाइयं, सज्झाए न सज्झाइयं । काले न कओ सज्जाओ, अकाले कओ सज्झाओ ॥ तात्पर्य यह है कि सेवा कार्य के सिवाय और गुढ आज्ञा के सिवाय आगम स्वाध्याय करना प्रत्येक साधु-साध्वि को अपना आवश्यक कर्तव्य

समझना चाहिए और इसका पालन न हो तो निशीथ, उद्दे०१९ अनुसार चौमासी प्रायश्चित्त लेना चाहिये ।

८. पोरिसी आ जाने के बाद भी कालिक सूत्र की स्वाध्याय करे तो चौमासी प्रायश्चित्त । यथा– दीपावली के दिन उत्तराध्ययन की स्वाध्याय । **–निशीथ–१९ ।**

९. आगम निर्दिष्ट क्रम के विपरीत वाचणी दे तो प्रायश्चित्त । **–निशीथ–१९ ।**

१०. प्रथम आचारांग सूत्र की वाचणी दिये बिना कोई भी आगम निर्दिष्ट सूत्र की वाचणी देवे तो प्रायश्चित्त । **–निशीथ–१९ ।**

११. आचार्य उपाध्याय के वाचणी दिये बिना या आज्ञा दिये बिना कोई भी सूत्र पढ़े तो प्रायश्चित्त । **निशीथ– १९।**

१२. दस बोल युक्त भूमि हो वहीं परठना चाहिए । **–उत्तरा. अ. २४ गा. १७–१८**

१३. रास्ते चलता बातें नहीं करना । – **आचारांग २–३–२**

१४. चरे मंद मणुविग्गो, अवक्खित्तेण चेयसा । दशवै. ५, १, २।

उतावल से चलना, असमाधि स्थान है, –दशा०द०१ । समाज में उतावल से अर्थात् तेज चलने वाले प्रसंशा प्राप्त कर खुश होते हैं, यह अज्ञान दशा का परिणाम है । आगम में उसे पापीश्रमण कहा गया है। **उतरा० अ०१७ गा० ८ ।**

१५. थोड़ी सी भी कठोर भाषा बोलने का मासिक प्रायश्चित्त; निशीथ०२ । गृहस्थ या साधु को कठोर वचन अथवा उसकी कोई भी प्रकार की आशातना करना लघु चौमासिक प्रायश्चित्त का कार्य है। निशीथ–१४ व. १३, । रत्नाधिकों को कठोर वचन कहे या कोई भी प्रकार की आशातना करे तो गुढ चौमासी प्रायश्चित्त– **निशीथ– १० ।**

१६. दर्शनीय दृष्यों को देखने व वादिंत्र आदि के स्थलों में सुनने के लिए जावे या मकान के बाहर आकर देखे तो लघुचौमासी प्रायश्चित्त। **–निशीथ–१२ तथा १७ ।**

१७. रोगातंक के समय आहार का त्याग करना चाहिए । **–उत्तरा०अ० २६, गा० ३४–३५ ।**

१८. जल्दी खाना, अति धीरे खाना, मुंह से आवाज करते हुए खाना–पीना, नीचे गिराते हुए खाना, स्वाद के लिए संयोग मिलाना आदि परिभोगेषणा के दोष है । – **प्रश्न०अ०६ ।**

१९. साधु-साध्वी को तीन जाति के पात्र रखना कल्पता है ।**–ठाणांग–३** इसके सिवाय धातु हो या कांच, दांत, वस्त्र, पत्थर आदि कोई भी नहीं कल्पते हैं । – **निशीथ– उद्दे०११।**

२०. आचार्य, उपाध्याय की विशिष्ट आज्ञा बिना विगय खाने का भी प्रायश्चित्त आता है । **–निशीथ उ०४।**

२१. अन्य साधु कार्य करने वाले हों तो कोई भी सेवा कार्य सीवन आदि साध्वी से कराना नहीं कल्पता है । अन्य साध्वी कार्य करने वाली हो तो साध्वी, साधु के द्वारा अपना कोई भी कार्य नहीं करा सकती है । चाहे कपड़ा सीना हो या बाजार से लाना या आहार औषध आदि लाना देना । **–व्यवहार उद्दे०५ ।**

२२. स्वपक्ष वाले के अभाव की स्थिति बिना साधु-साध्वी को आपस में आलोचना, प्रायश्चित्त करना भी नहीं कल्पता है ।**–व्यव. उ. ५ ।**

२३. साधु–साध्वी दोनों को एक दूसरे के उपाश्रय में जाना बैठना आदि कोई भी कार्य करना नहीं कल्पता है । वाचणी लेना देना हो व स्थानांग कथित पाँच कारण हो तो जा सकते हैं इसके सिवाय केवल दर्शन करने, सेवा(पर्युपासना) करने, इधर उधर की बातें करने आदि के लिए जाना नहीं कल्पता है । **–बृहत्कल्प उद्दे. ३, सू. १, २ । व्यव. उ. ७ । ठाणा. अ. ५ ।**

२४. जो साधु मुख आदि को वीणा रूप बनावे और उनसे वीणा रूप में आवाज निकाले तो प्रायश्चित्त आता है । **–निशीथ– ५ ।**

२५. किसी के दीक्षार्थी या साधु के भाव पलटाने व अपना बनाने का गुरू चौमासी प्रायश्चित्त । – **निशीथ– १० ।**

२६. गृहस्थ का औषध उपचार करे या उसे बतावे तो प्रायश्चित्त । **–निशीथ– १२ ।**

२७. विहार आदि में गृहस्थ से भण्डोपकरण उठवावे या गृहस्थ के घर पर रखे तो प्रायश्चित्त । **–निशीथ– १२ ।**

२८. ४० वर्ष से कम उम्र वाले तढण, नवदीक्षित और बाल मुनि इन प्रत्येक साधु को बिना आचार्य उपाध्याय के रहना नहीं कल्पता है । क्यों कि ये श्रमण दो से संग्रहित होने पर ही समाधिवन्त रह सकते है अर्थात् आचार्य और उपाध्याय दो की इन पर संभाल रहना आवश्यक है । **–व्य. उद्दे. ३ ।**

इन तीनों को आचार्य उपाध्याय से युक्त ही होना सूत्र में कहा है । अत: मात्र स्थविर की नेश्राय से या केवल एक पदवीधर की निश्राय से इनका सदा के लिए रहना आगम विपरीत है । अर्थात् किसी भी विशाल गच्छ को आचार्य उपाध्याय व प्रवर्तिनी की पद व्यवस्था के बिना लम्बे समय तक रहना नहीं कल्पता है । **–व्यवहार सूत्र, उद्दे. ३ ।**

२९. संघाड़े का मुखिया बनकर विचरने वाले में ६ गुण होने चाहिए ।– **ठाणा.६ ।** उसमें एक यह भी है कि बहुश्रुत होना चाहिए । जघन्य– सम्पूर्ण आचारांग एवं निशीथ सूत्र अर्थ सहित कंठस्थ धारण करने वाला बहुश्रुत कहलाता है।**–निशीथ० चूर्णि, गा–४०४।–बृहकल्प भा० गा० ६९३ ।**

३०. अपने परिवारिक कुलों में ''बहुश्रुत'' ही गोचरी जा सकता है अन्य नहीं । **–व्यव० ६ ।** बड़े आज्ञा दे दे तो भी अकेले नहीं जा सकता। साथ में या स्वयं बहुश्रुत होना चाहिए ।

३१. योग्य अयोग्य सबको एक साथ वाँचणी देना प्रायश्चित्त का कारण है । **– निशीथ–१९ ।**

३२. प्रतिक्रमण– तच्चिते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे, तब्भावणा भाविए, अणत्थ कत्थई मणं अकरेमाणे, इस तरह एकाग्रचित्त होकर करने से भाव प्रतिक्रमण होता है अन्यथा नींद और बातों में या अस्थिर चित्त में द्रव्य प्रतिक्रमण होता है ।**–अनुयोगद्वार सूत्र का २७वाँ सूत्र ।** कहा भी है– द्रव्य आवश्यक बहु किया गया व्यर्थ सहु । अनुयोग द्वार देख जाओ रे ॥भवि भाव आवश्यक अति सुखदाई रे ।टेर॥

अत: प्रक्रिमण में नींद और बातें करना क्षम्य नहीं हो सकता है।

३३. आहार की कोई वस्तु भूमि पर या आसन पर रखे तो प्रायश्चित्त। **निशीथ०उद्दे०१६।**

३४. मकान बनाने के कार्य में साधु को भाग नहीं लेना चाहिए । – **उत्तरा० अ.३५, गा. ३–९ ।**

३५. साधु कोई भी वस्तु के क्रय विक्रय की प्रवृत्ति करता है तो वह वास्तविक साधु नहीं होता है । क्रय विक्रय महा दोषकारी है । – **उत्तरा० अ. ३५, गा. १३, १४, १५ । आचा० १, २, ५ ।**

३६. आहार बनने बनवाने में भाग नहीं लेना, अग्नि का आरंभ बहुत प्राणी नाशक है । **–उत्तरा. अ. ३५, गा.१०, ११, १२ ।**

३७. विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसार सायरे घोरे, जेणं पडइ दुढत्तरे ॥ –दशवै. अ. ६ गाथा ६६ ।

अत्यंत आवश्यक स्वास्थ्य दृष्टि से एवं असहनशीलता के विचार से की जाने वाली प्रवृति को विभूषा नहीं कहा जा सकता। अच्छा दिखने की भावना व टीप टाप की वृति को विभूषा का प्रतीक समझना चाहिए । **गाहावईणामेगे सूई समायारा भवइ भिक्खू य असिणाणए, मोयसमायरे से, तग्गंधे दुग्गंधे, पडिकूले पडिलोमे यावि भवइ । –आचा. २, २, २ ।** ऐसे आगम पाठ, अच्छा दिखने की वृति के पक्षकार नहीं है । –उत्तराध्ययन अ.२, गाथा. ३७ में **जाव शरीर भेओति, जलं काएण धारए** कथन से मैल परीषह सहने की विशिष्ट प्रेरणा है ।

३८. सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं॥ **–आव० ।** अठारह पाप का करने कराने व भला जानने का जीवन पर्यन्त त्याग होता है । क्रोध करना, झूठ–कपट करना व निन्दा करना एवं आपस में कलह करना ये सभी स्वतंत्र पाप है ।इनका सेवन करके जो साधु प्रायश्चित्त आलोचना भी नहीं करते उपेक्षाभाव से शुद्धि करने में लापरवाही चलाते हैं वे शिथिलाचारी की कोटि में जाते हैं ।

३९. गृहस्थ को बैठो, आवो, यह करो, सोवो, खड़े रहो, चले जावो आदि बोलना भिक्षु को नहीं कल्पता है । **–दशवै० अ. ७, गा. ४७ ।**

४०. मार्ग में हरी-घास, बीज, अनाज आदि कोई भी सचित चीजें हो तो अन्य मार्ग होते हुए उस दोष युक्त मार्ग से नहीं जाना और अन्य मार्ग न हो तो पांव को आड़ा टेड़ा या पंजों के बल करके पाँव को संभाल-संभाल कर यथाशक्य बचाव करते हुए चलना अर्थात् पूरे पांव को धरते हुए आराम से नहीं चलना । -**आचा० २, अ. ३।**

४१. एषणा के ४२ दोष टालकर आहार, वस्त्र पात्र, शय्या आदि ग्रहण करना चाहिए । **उत्तरा. अ. २४ गा. ११** । ये दोष युक्त ग्रहण करने पर गुरूचौमासी, गुरूमासी व लघुचौमासी आदि प्रायश्चित्त आते हैं। **निशीथ. उद्दे०१, १०, १३, १४** आदि ।

४२. खुले मुंह से बोलना सावद्य भाषा है अर्थात् मुंहपति से मुँह ढके बिना किंचित भी नहीं बोलना । **भग० श. १६ उद्दे०२ ।**

इन आगमोक्त निर्देशों के तथा और भी ऐसी अनेक आज्ञाओं के विपरीत यदि अपनी प्रवृत्ति है और प्रायश्चित्त शुद्धि भी नहीं की जाती है तो ऐसी स्थिति में अपने को शिथिलाचारी नहीं मानकर शुद्धाचारी मानना, अपनी आत्मा को धोखा देना होता है । यदि शिथिलाचारी का कलंक पसंद न हो तो उपरोक्त आगम निर्देशों के अनुसार चलने की और अशुद्ध प्रवृति या परम्परा को छोड़ने की सरलता व ईमानदारी धारण करनी चाहिए ।

निबंध-१०

शिथिलाचार व शुद्धाचार का स्वढप

शाब्दिक स्वढप :- संयम आचार का शुद्ध पालन, शुद्धाचार है । शिथिलता से अर्थात् सुस्ती से, जागढकता की कमी से, शुद्धाशुद्ध रूप से संयम आचार का पालन, शिथिलाचार है ।

प्राचीन भाष्यादि ग्रन्थों में इनके लिए ''शीतल विहारी'' और ''उद्यत विहारी'' शब्दों का प्रयोग मिलता है । शीतल का अर्थ सुस्ती से और उद्यत का अर्थ जागढकता से संयम में विचरण करने वाले इस तरह समझ लेने से प्रचलित शब्द और प्राचीन काल के शब्द प्राय: एकार्थवाची होते हैं ।

मौलिक आगमों में इसी अर्थ के लिए ***उग्गा, उग्गविहारी एवं प्रतिपक्ष में पासत्था-पासत्थविहारी, ओसण्णा-ओसण्णविहारी, कुसीला-कुसीलविहारी,संसत्ता-संसत्तविहारी, अहाछंदा-अहाछंदविहारी*** शब्द का प्रयोग हुआ है । - **ज्ञाता. अ. ५**

उग्रहारी, उद्यत विहारी और शुद्धाचारी ये तीनों लगभग एक श्रेणी के शब्द है तथा पासत्था, पासत्थविहारी आदि शब्दों के स्वरूप को एक शब्द से कहने रूप शीतलविहारी और शिथिलाचारी शब्द अलग समय में प्रयुक्त हुए हैं।

अशुद्ध स्वरूप का दिग्दर्शन :- शुद्धाचार या शिथिलाचार की छाप लगाना किसी के व्यक्गित अधिकार का विषय नहीं समझना चाहिये ।

जिसके जो मन भावे वह अपनी समाचारी या नियम बना लेवे और उसे अन्य गच्छ वाले पालन नहीं करे उनको शिथिलाचारी की छाप लगादे तो इसे उचित नहीं कहा जा सकता है । किसी समय अमुक द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव की परिस्थिति से कोई समाचारी बना दी जाय उसे अन्य काल में अन्य परिस्थिति में अन्य गच्छ में पालन नहीं करने वालों को शिथिलाचारी कहना भी उचित नहीं हो सकता है ।

अथवा :- १. मलीन कपड़े रखने वाले, २. ध्वनियंत्र में नहीं बोलने वाले, ३. प्रेस कार्यं में भाग नहीं लेने वाले तो सभी शुद्धाचारी हैं और शेष सभी शिथिलाचारी है तथा ये तीनों गुण वाले जो कहे और करे वह सब शुद्धाचार है और ये कह दे वह सब शिथिलाचार है, ऐसा समझ लेना भी उचित नहीं कहा जा सकता ।

शुद्ध स्वरूप का विश्लेषण :- पाँच महाव्रत, पाँच समिति का जो स्पष्ट आगम सिद्ध वर्णन है तथा आचार शास्त्रों में व अन्य शास्त्रों में जो-जो संयम विधियों का स्पष्ट वर्णन है, निशीथ सूत्र आदि में जिनका स्पष्ट प्रायश्चित्त विधान है, उनमें से किसी भी विधि व निषेध के विपरीत आचरण, विशेष परिस्थिति बिना, प्रायश्चित्त लेने की भावना बिना और शुद्ध संयम पालन के अलक्ष्य से, करना शिथिलाचार कहा जा सकता है ।

किन्तु समय समय पर चले गये व्यक्तिगत या सामाजिक

सामाचारिक नियमों के अपालन से किसी को शिथिलाचारी नहीं समझना तथा आगम सिद्ध स्पष्ट निर्देशों का व्यक्तिगत लाचारी से, आपवादिक स्थिति रूप में व यथासंभव शीघ्र शुद्धिकरण की भावना युक्त होकर भंग किया जाय तो उसे भी शिथिलाचार नहीं समझना।

१. निष्कारण और परम्परा प्रवृत्ति रूप के अपने आगम विपरीत आचरणों को भी शिथिलाचार नहीं मानना या २. शुद्धाचार में मानने की बुद्धिमानी करना यह योग्य नहीं है । दुहरा अपराध कहलाता है। साथ ही ३. दूसरों की सकारण इत्वरिक दोष प्रवृत्ति के लिए भी शिथिलाचार कहना या समझना ये सब अयोग्य समझ है, इसमें सुधार कर लेना चाहिए ।

जिन विषयों में आगम में कोई स्पष्ट विधान या निषेध अथवा प्रायश्चित्त नहीं है उन विषयों में मान्यता भेद से जो भी आचार भेद हो उसे भी शिथिलाचार की संज्ञा में समाविष्ट नहीं करना चाहिये ।

संक्षेप में–आपवादिक स्थिति के बिना संपूर्ण स्पष्ट आगम निर्देशों का शुद्ध पालन करना शुद्धाचार है । व शुद्ध पालन न करना शिथिलाचार है । अस्पष्ट निर्देशों व अनिर्दिष्ट आचारों सामाचारियों का पालन या अपालन शुद्धाचार या शिथिलाचार का विषय नहीं है।

शिथिलचार का निर्णय करने के लिए मुख्य दो बातों का विचार करना चाहिये– १. यह प्रवृत्ति किसी स्पष्ट आगम पाठ से विपरीत है ? २. बिना विशेष प्रसंग या परिस्थिति से, शुद्धिकरण की भावना के बिना मात्र स्वच्छन्दता से यह प्रवृत्ति की जा रही है ?

इन दो बातों के निर्णय से शिथिलाचार का निर्णय किया जा सकता है । दोनों बातों का शुद्ध निर्णय किये बिना शिथिलाचार का सही निर्णय नहीं हो सकता । शिथिलाचारी को आगमों में अपेक्षा से १० विभागों में विभक्त किया गया है । यथा–१. अहाछन्दा २. पासत्था ३. उसण्णा ४. कुशीला ५. संसत्ता ६. नितिया ७. काहिया ८. पासणिया ९. मामगा १० संपसारिया । इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

१. अहाछंदा–आगम निरपेक्ष स्वमति से प्ररूपणा करने वाला ।

२.पासत्था– संयम का उत्साह मात्र कम हो जाना, पूर्ण अलक्ष्य हो जाना, आलसीपन हो जाना । अन्य लक्ष्यों की प्रमुखता हो जाना ।

३. उसण्णा– प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण आदि अनेक दिनचर्या समाचारी में शिथिलता वाला ।

४. कुशीला– विद्या, मन्त्र, निमित्त, कौतुक कर्म आदि आभियोगिक प्रवृति वाला ।

५. संसत्ता– बहुरूपिया के समान वृत्ति वाला, चाहे जैसा हीनाधिक आचार वाला बन जावे ।

६. नितिया– कल्प काल की मर्यादा भंग करने वाला या सदा एक जगह रहने वाला ।

७. काहिया– विकथाओं में प्रवृत्ति करने वाला ।

८. पासणिया– दर्शनीय स्थल देखने जाने वाला ।

९. मामगा– आहार उपधि, शिष्य, गांव, घरों में या श्रावकों में ममत्व **मेरा–मेरा ऐसे भाव** रखने वाला ।

१०. संपसारिया– गृहस्थ के कार्यों में सलाह देने व मुहूर्त देने की प्रवृत्ति करने वाला ।

नोट :– इन दसों की विस्तार से व्याख्या अन्य निबंध में देखें ।

शुद्धाचारी के निर्णय के लिए भी मुख्य दो बातों पर ध्यान देना चाहिये । यथा– १. जो बिना कारण–परिस्थिति के आगम विपरीत कोई भी आचरण करना नहीं चाहता है । २. अपनी प्रवृत्ति अमुक आगम पाठ से विपरीत है ऐसा ध्यान में आते ही यदि कोई परिस्थिति न हो तो यथाशक्य तत्काल उसे छोड़ने को तत्पर रहता है। मात्र परम्परा के नाम से धकाने की बहानाबाजी नहीं करता है । उसे शुद्धाचारी समझना चाहिये । इस उक्त विचारणाओं पर से निम्न परिभाषा बनती है ।

निष्कर्ष निर्मित परिभाषा :– १. शुद्धाचारी– जो आगमोक्त सभी आचारों का पूर्णरूप से पालन करता है । अकारण कोई अपवाद सेवन नहीं करता है।किसी कारणवश अपवाद रूप दोष के सेवन किये जाने पर उसका प्रायश्चित्त स्वीकार करता है । कारण समाप्त होने पर

उस प्रवृत्ति को छोड देता है और आगमोक्त आचारों की शुद्ध प्ररूपणा करता है, वह **शुद्धाचारी** है ।

२. शिथिलाचारी– जो आगमोक्त एक या अनेक आचारों से सदा विपरीत आचरण करता है, उत्सर्ग अपवाद की स्थिति का विवेक नहीं रखता है, विपरीत आचरण का प्रायश्चित्त भी नहीं लेता है, आगमोक्त आचारों से विपरीत प्ररूपणा करता है, वह "शिथिलाचारी" है ।

आगमोक्त विधि निषेधों के अतिरिक्त क्षेत्र काल की दृष्टि से या विशेष सावधानी आदि किसी भी दृष्टिकोण से जो किसी भी समुदाय में जो समाचारी का गठन किया जाता है उसके पालन से या न पालने से किसी अन्य समुदाय वालों को शुद्धाचारी या शिथिलाचारी समझना उचित नहीं है । किन्तु जिस समुदाय में जो रहते हैं, उन्हें उस संघ की आज्ञा से उन नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। ऐसे व्यक्तिगत सामाचारिक नियमों की तालिका एवं आगम विधानों की तालिका अन्य लेख में पढें ।

निबंध–११

आत्म निरक्षणीय दूषित प्रवृत्तियों की सूचि

(१) कारण अकारण का विचार किए बिना, प्रवृति रूप से तृतीय प्रहर के अतिरिक्त समय में अर्थात् प्रथम चतुर्थ प्रहर में आहार लाना या खाना । **–उत्त॰ २६ ।**

(२) अकारण विगय युक्त आहार करना अथवा आचार्य आदि की आज्ञा बिना विगय खाना । **–निशी॰ ४ ।**

(३) मार्ग में चलते समय किसी से वार्तालाप करते रहना । **–आचा॰ श्रु॰२, अ॰ ३ ।**

(४) कीड़ियों आदि जीवों से युक्त अर्थात् जीवों की अधिकता वाले उपाश्रय में ठहरना । **–आचा॰ श्रु॰२, अ॰ २ ।**

(५) मल-मूत्र परठने की भूमि से रहित उपाश्रयों में ठहरना । **–आचा॰ श्रु॰२, अ॰२, उद्दे॰२, दशवै॰ ८ ।**

(६) कोई आवे नहीं, कोई देखे नहीं ऐसे स्थानों के बिना एवं निषिद्ध स्थलों में मल–मूत्रादि का परित्याग करना ।**–उत्त॰२४;निशीथ॰३,१५।**

(७) पुस्तकों और शास्त्रादि को पास में रखना और उन उपकरणों की उभय काल प्रतिलेखन नहीं करना ।**–निशी॰ उद्दे॰२ तथा आव॰ अध्य॰४।**

(८) सामान्य रूप से कोई भी लेखन कार्य करना । पुस्तक प्रकाशन करवाना, या प्रकाशन कार्य में भाग लेना अर्थात् संशोधन भूल सुधार करना या संपादन करना, प्रकट या गुप्त रूप से प्रेरणा करना ।

(९) आपरेशन करवाना, सावद्य चिकित्सा एवं गृहस्थ से सेवा लेना । **–आचा॰ श्रु॰२ ,अ॰ १३, उत्त॰२, गा॰ ३२ ।**

(१०) गृहस्थों को किसी भी प्रयोजन से आने के लिए, जाने के लिए एवं बैठने या कोई भी कार्य करने आदि का कहना या प्रेरणा करना। **–दश॰७, गा॰४७ ।**

(११) अल्प वर्षा में या संपातिम जीवों के गिरने के समय गोचरी आदि जाना । **–दशवै॰५ ।**

(१२) जल्दी-जल्दी चलना या पूर्ण रूप से अप्रमार्जित भूमि में चलना। **–दशा॰१, दशवै॰ ५ ।**

(१३) सुख पूर्वक ग्रामानुग्राम नहीं विचर कर उग्र(लम्बे–लम्बे) विहार करना । **–भगवती आदि सूत्र ।**

(१४) आधाकर्मी या मिश्र जात दोष युक्त गर्म पानी या धोवण पानी ग्रहण करना । **–आचा॰श्रु॰२, अ॰१ ।**

(१५) क्षुधा आदि कारण का विचार किए बिना आहार करना एवं रोग–आतंक आदि कारण होने पर भी आहार त्याग नहीं करना, किन्तु औषध उपचार करना, डाक्टरों– वैद्यों की भीड़ इकट्ठी करना । **–उत्त॰२६**

(१६) सभी उपकरणों की या पात्रों की और पुस्तकों की दोनों समय प्रतिलेखन नहीं करना या प्रतिलेखन प्रमार्जन विधि पूर्वक नहीं करना । **–आव॰४ ।**

(१७) परपरिवाद–दूसरों का अवगुण अपवाद निंदा करना अर्थात् १५वाँ

पाप का सेवन करना । किसी का तिरस्कार, बहिष्कार, इन्सल्ट करना, झूठे आक्षेप लगाना । **–सूय॰ १–२–२ ।**

(१८) किसी भी साधु-साध्वी या गृहस्थ अथवा प्रतिपक्षी के प्रति अशुभ मन, अप्रशस्त संकल्प रखना, अशुभ वचनों का प्रयोग करना अर्थात् प्रथम महाव्रत की दूसरी, तीसरी भावना को दूषित करना । किसी को भी गिराने के लिए या किसी की हल्की लगाने रूप प्रवृति करना । **–उत्त॰ २४ गुप्ति ।**

(१९) किसी भी साधु श्रावक आदि के प्रति रंज भाव, अमित्र भाव अथवा शत्रु भाव रखना । **–भग॰श॰ १३, उद्दे॰ ६ अभीचि कुमार ।**

(२०) आचारांग एवं निशीथ सूत्र अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण किए बिना **सिंघाड़ा प्रमुख बनना** या जघन्य बहुश्रुत बने बिना ही **आचार्य आदि कोई भी पद** धारण कर लेना । **–व्यव॰ ३ ।**

(२१) आचार्य–उपाध्याय दो पदवीधर के नेतृत्व बिना किसी भी तढण या नव दीक्षित साधु को या उनसे युक्त गच्छ को, रहना आगम विढद्ध है । फिर भी बिना दो पदों के विशाल गच्छ को चलाना । और आचार्य उपाध्याय एवं प्रवर्तिनी तीन पदवीधरों के नेतृत्व बिना साध्वियों का रहना । **–व्यव॰ ४ ।**

(२२) फल मेवे आदि के लिए निमंत्रित समय में या गोचरी के अतिरिक्त समय में जाना ।

(२३) तपस्या नहीं करते हुए भी सदा विगयों का सेवन करना । **–उत्तरा॰ १७ ।**

(२४) चाय आदि पदार्थ का किसी भी समय के लिए व्यसन होना ।

(२५) प्रतिक्रमण एकाग्रचित से स्फूर्ति युक्त एवं भावपूर्वक नहीं करना, किन्तु निद्रा लेना (ऊँघना) एवं बातें करना । **–अनुयोग द्वार सू॰ २७।**

(२६) योग्य–अयोग्य का विवेक किए बिना सबको एक साथ वाँचनी देना । **–निशी॰ १६ ।**

(२७) अपने पारिवारिक कुलों में बहुश्रुत ही गोचरी जा सकता है अबहुश्रुत साधु-साध्वी आज्ञा से भी नहीं जा सकते । फिर भी अबहुश्रुत को भेजना या जाना । **–व्यव॰ ६ ।**

(२८) उपरोक्त सत्ताइस दूषित आचार वालों को शिथिलाचारी न मानना या इनके साथ रहना एवं वंदन, आहार आदि सम्बन्ध रखना। **–निशी॰ १६।**

यदि शुद्धाचारी कहे जाने वाले भी इनमें से कई दूषित प्रवृत्तियों को करके प्रायश्चित्त से शुद्धि नहीं करते हैं तो वे भी आगम समाचारी में दोष लगाने वाले होने से उपरोक्त परिभाषाओं के अनुसार "अवसन्न" (ओसन्ना) शिथिलाचारी में समाविष्ट होते है । इस स्थिति में वे भी दूषित आचार वालों की दूसरी श्रेणी में आते हैं ।

इन कारणों से उनको भी परस्पर दूसरी तीसरी श्रेणी वालों को गीतार्थ के निर्णय से वंदन आदि करने में प्रायश्चित्त नहीं आता है । (पहेली श्रेणी में यथाच्छंद, दूसरी श्रेणी में पासत्थादि चार, तीसरी श्रेणी में शेष काहिया आदि पाँच)

सम्भवतः इसी अपेक्षा को लेकर गुजरात की विभिन्न समाचारी वाली संप्रदायों में आज भी वंदन आदि व्यवहार किये जाते हैं । जैन समाज के प्रेम मय वातावरण के लिये अन्य प्रान्तों वाले श्रमणों को भी इस पर गहरा विचार चिंतन कर कोई उदार निर्णय लेना चाहिए ।

जिससे जैन समाज में फिरका परस्ती, छींटाकसी, ईर्ष्या, द्वेष, निंदा प्रवृति, आपसी बढ़ती हुई दूरियाँ एवं मनोमालिन्य वृद्धि आदि अवगुणों में सुधार हो सके । साथ ही प्रेम, एकता, सहृदयता, भावों की शुद्धि, शांत–सुंदर वातावरण बन कर धर्म साधकों के आत्म गुणों का विकास हो सके ।

भिन्न-भिन्न गच्छ एवं विभिन्न समाचारी वाले आज भी अपनी इच्छा होने पर आपस में मैत्री सम्बन्ध और वंदन व्यवहार रख लेते हैं । यह व्यवहार भी उक्त निर्णय को पुष्ट करने वाला है ।

अपने आपको शुद्धाचारी मानने वाले श्रमण किसी प्रकार की कलुषता या अन्य वातावरण के कारण अपनी इच्छा होने मात्र से ही पुनः वंदन व्यवहार बंद कर देते हैं । जब कि आचार तो उन दोनों का पहले पीछे वही होता है ।

इस प्रकार वर्तमान में वंदन व्यवहार का निर्णय आगम आशय

की ओट में कषाओं एवं इच्छाओं पर मुख्य रूप से आधारित है । **यथा–** स्वतंत्र संप्रदायों वाले परस्पर समय समय पर वंदन व्यवहार कर लेते हैं और कभी तोड़ भी देते हैं ।

पूज्य श्रमणश्रेष्ठ बहुश्रुत श्री समर्थमलजी म०सा० श्रमण संघ के आचार्य सम्राट को सविधि वंदन कर लेते हैं एवं श्रुतधर श्री प्रकाश मुनि जी श्रमण संघ के प्रमुख श्रमण को अभिवादन वंदन कर सकते हैं और उन्हीं के श्रमण श्रावक उन्हें अवंदनीय कह देते हैं, यह एक अविचारकता है ।

सार– ये उक्त विचित्र व्यवहार मान कषाय और संकीर्ण मानस एवं स्वेच्छाओं के परिणाम है । दिखावा और बहाना आचार का किया जाता है किंतु एक सरीखे आचार वालों में मनमुटाव या गच्छभेद हो जाय तो दोनों का आचार एक होने पर भी वंदन व्यवहार नहीं करते हैं तब उनके आचार सिद्धांत के बहाने की खुले रूप में पोल खुल जाती है कि ये अपने कषाय मात्र के कारण ही वंदन व्यवहार करते रहते है और छोडते रहते है यथा– ज्ञानगच्छ और समर्थगच्छ आदि आदि गच्छ। निर्ग्रन्थ प्रवचन जिनाज्ञा की आराधना के लिए तो उक्त समन्वयात्मक सूचनाओं की ही विचारणा करके परिपालना करनी चाहिए ।

निबंध–१२

दूषित आचार वालों को विवेक ज्ञान

जिनके दोष लगाने में अपनी कोई परिस्थिति है, जिनके दोष लगाने में भी कोई सीमा है जो दोष को दोष समझते है एवं स्वीकार करते हैं उसका यथासमय प्रायश्चित्त लेते हैं एवं जो उस दोष प्रवृत्ति को पूर्ण रूप से छोड़ने का संकल्प रखते हैं या यदि वह नहीं छूटने योग्य है तो उसे अपनी लाचारी कमजोरी समझ कर खेद रखते हैं अथवा भ्रम से ही कोई प्रवृति चलती है तो उन्हें शिथिलाचारी की संज्ञा में नहीं गिना जायेगा ।

वे अपेक्षा से आचार में शिथिल होते हुए भी आत्मार्थी, सरल

एवं श्रद्धा प्ररूपणा की शुद्धि वाले एवं शुद्धाचार के लक्ष्य वाले होने से **बकुश** या **प्रतिसेवना** निर्ग्रन्थ में ही गिने जाने के योग्य होते हैं । इन दोनों प्रकार के निर्ग्रन्थ में छठवाँ या सातवाँ गुणस्थान हो सकता है।

यदि ये दूषित आचार वाले कभी प्ररूपणा में गलती करने लग जाय और वे शुद्धाचारी के प्रति द्वेष या अनादर भाव रखे एवं उनके प्रति आदर और विनय भक्ति भाव नहीं रखे या इनके भावों में तीन अशुभ लेश्या आ जावे अथवा आवश्यक संयम पज्जवों के दर्जे में कमी आ जावे तो इनका छठवाँ गुणस्थान भी छूट जाता है तब वे चौथे गुणस्थान में या प्रथम गुणस्थान में पहुँच जाते हैं ।

अत: दूषित संयम प्रवृत्तियों वालों को अपनी भाषा एवं भावों की सरलता, आत्म शान्ति, हृदय की शुद्धि आदि उक्त निर्देशों का पूर्ण विवेक रखना अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा ये दुहरा अपराध करके यह भव और पर भव दोनों बिगाड़ कर दुर्गति के भागी बनते हैं ।

निबंध–१३

शुद्धाचार वालों को विवेक ज्ञान

भाग्यशाली जीवों को ही ज्ञान दर्शन चारित्र की शुद्ध आराधना का संयोग एवं उत्साह प्राप्त होता है । जैसे धन से धन की वृद्धि होती है वैसे ही गुणों से गुणों की वृद्धि ही होनी चाहिए । तदनुसार शुद्धचारी होने का आत्म विश्वास रखने वाले साधकों को अपनी साधना का कभी भी घमण्ड नहीं करना चाहिए । अपना उत्कर्ष एवं दूसरों का अपकर्ष करने की वृत्ति नहीं रखनी चाहिए । जितने भी अन्य स्वगच्छीय या परगच्छीय शुद्धाचारी उत्कृष्टाचारी श्रमण है, उनके प्रति किसी भी प्रकार की स्पर्धा भाव न रखते हुए आत्मीय भावपूर्वक उनका पूर्ण सत्कार, सन्मान, विनयभाव आदि रखना चाहिए ।

जो भी अपने कर्म संयोगों के कारण एवं चारित्र मोह के अशुद्ध–अपूर्ण क्षयोपशम के कारण दूषित आचारण वाले शिथिलाचारी या भिन्न समाचारी वाले श्रमण है उनके प्रति निंदा, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, हीन भावना, उनका अपयश–अकीर्ति करने की भावना नहीं रखते

हुए; उनके प्रति प्रेम, मैत्री, मध्यस्थ एवं अनुकम्पा भाव रखते हुए उनके उत्थान उत्कर्ष का चिंतन एवं सद्भावना रखनी चाहिए । अपनी क्षमता की वृद्धि करके सहृदयता एवं सद्व्यवहार आदि करते हुए अपने बुद्धि बल से ऐसे उपायों में प्रयत्नशील रहना चाहिए कि जिससे दूषित आचार वाले भी शुद्धाचार की ओर अग्रसर बने।

शुद्धाचारी का आत्म विश्वास रखने वालों का यह भी परम कर्तव्य हो जाता है कि वे गिरे हुओं को ऊँचा उठावे किन्तु निन्दा तिरस्कार का एक धक्का और लगा कर उन्हें और अधिक गड्डे में गिराने की चेष्टा नहीं करें।

शुद्धाचारी का आत्म विश्वास रखने वालों को अपने द्रव्य क्रियाओं और समाचारियों के साथ भाव संयम रूप नम्रता, सरलता, भावों की शुद्धि, हृदय की पवित्रता, सबके प्रति पूर्ण मैत्री भाव, अकषाय एवं अकलुष भाव तथा पूर्ण सोहार्द्र भाव रखना चाहिए । विचरण करते हुए किसी भी क्षेत्रों घरों और गृहस्थों में ममत्व भाव नहीं बनावें, सर्वत्र निर्ममत्वी रहें । कहीं भी समकित और गुढआमनाय की बाड़ाबंधी को लेकर मेरे गाँव, मेरे घर, मेरे श्रावक, मेरी समकित, मेरे क्षेत्र, मेरी छाप, मेरा प्रभाव और मेरा साम्राज्य इत्यादि इस मेरे-मेरे के चक्कर में पड़कर महापरिग्रही, महालोभी होकर एवं समाज में महा क्लेशों की जड़ रोपकर अशांत, क्षूद्र, तुच्छतापूर्ण, शंकीर्ण मानस का वातावरण तैयार न करे एवं स्वयं की आत्मा को भी महापरिग्रहवृत्ति में नहीं डुबावे । किन्तु **“एग एव चरे”** इस आगम(उत्तरा०२)वाक्य को सदा स्मरण में रखें।

पुनश्च :- सार यह है कि शुद्धाचारी को अपना घमण्ड न करते हुए अन्य शुद्धाचारी के प्रति तथा शिथिलाचारी के प्रति भी भावों को शुद्ध रखना चाहिए । और शिथिलाचारी को अन्य शिथिलाचारी के प्रति भावों को शुद्ध रखना चाहिए तथा शुद्धाचारी के प्रति हृदय में आदर, भक्ति भाव रखते हुए उनका यथोचित विनय व्यवहार करना चाहिए। निंदा अपयश किसी का भी नहीं करना चाहिए ।

०००००

निबंध-१४

पासत्था आदि स्वरूप भाष्य के आधार से

पासत्था-पार्श्वस्थ :-

दंसण-णाणचरित्ते, तवे य सुताहितो पवयणे य ।
तेसिं पासविहारी, पासत्थं तं वियाणाहि ॥४३४१॥

दर्शन, ज्ञान, चरित्र तप और प्रवचन में जिन्होंने अपनी आत्मा को स्थापित किया है । ऐसे उद्यत विहारियों का जो पार्श्व-विहारी है अर्थात् उनके समान आचार पालन नहीं करता है, उसे पार्श्वस्थ जानना चाहिए ।

पासोत्ति बंधणं तिय, एगट्ठं बंधहेतवो पासा ।
पासत्थिय पासत्था, एसो मण्णोवि पज्जाओ ॥४३४३॥

पाश और बंधन ये दोनों एकार्थक है । बंधन के जितने हेतु हैं वे सब पाश हैं । उनमें जो स्थित हैं वे पार्श्वस्थ हैं, यह भी पार्श्वस्थ का अन्य पर्याय(एक अर्थ) है ।

दुविहो खलु पासत्थो, देसे सव्वे य होई नायव्वो ।
सव्वे तिण्णि विगप्पा देसे सेज्जातरकुलादी ॥४३४०॥

पार्श्वस्थ दो प्रकार के जानने चाहिए-१ देशपार्श्वस्थ, २ सर्व पार्श्वस्थ । देशपार्श्वस्थ शय्यातर कुलादि में एषणा करता है । सर्व पार्श्वस्थ के तीन विकल्प हैं ।

सर्वपार्श्वस्थ :-

दंसण णाण चरित्ते, सत्थो अच्छति तहिं ण उज्जमति ।
एतेग उ पासत्थो, एसो अण्णोवि पज्जाओ ॥४३४२॥

१. दर्शन, २. ज्ञान, ३.चारित्र की आराधना में जो आलसी होता है अर्थात् उनकी आराधना में उद्यम नहीं करता है तथा उनके अतिचार-अनाचारों का सेवन करता है वह सर्वपार्श्वस्थ है ।

वह सर्वपार्श्वस्थ सूत्र पौरिषी अर्थपोरिषी नहीं करता है, सम्यग्-दर्शन के अतिचार शंका, कांक्षा आदि करता रहता है । सम्यक्चारित्र

के अतिचारों का वर्जन नहीं करता है इसलिए वह सर्वपार्श्वस्थ है।

देश-पार्श्वस्थ :-

सेज्जायर कुल णिस्सित, ठवणकुल पलोयणा अभिहडे वा
पुव्वं पच्छा संथुत, णितियग्ग पिंडभोति पासत्थो ॥४३४४॥

१-जो शय्यादाता के घर से भिक्षा लेता है ।
२-जो श्रद्धालु गृहस्थों के सहयोग से जीवन निर्वाह करता है ।
३-जो स्थापनाकुलों में अकारण एषणा करना है ।
४-बड़े सामुहिक भोज में आहार की एषणा करता है, संखडी के भोजन को देखने जाता है या कांच में अपना प्रतिबिंब देखता है ।
५-जो सम्मुख लाया हुआ आहार लेता है ।
६-जो भिक्षा लेने के पहले या पीछे अपनी बढ़ाई या दाता की प्रशंसा करता है ।
७-जो निमंत्रण स्वीकार करके प्रतिदिन निमंत्रक के घर से आहारादि ग्रहण करता रहता है । इस प्रकार के दोषों का आचरण करता है, वह देश-पार्श्वस्थ है ।

ओसण्णो-अवसन्न :-

यह देश्य शब्द है, इसके तीन समानार्थक पर्याय है- १. अवसण्ण, २. ओसण्ण, ३. उस्सण्ण । तीनों के तीन अर्थ- १. अवसण्ण-आलसी २. ओसण्ण-खण्डित चारित्र, ३. उस्सण्ण-संयम से शून्य ।

चूर्णि :- ओसण्णो दोसो-अधिकतर दोषों वाला । ओसण्णो बहुतर-गुणावराही-अनेक गुणों को दूषित करने वाला । **उयो(गतो-चुओ) वा संजमो तम्मि सुण्णो उस्सण्णो**-संयम से च्युत अर्थात् संयम शून्य अवसन्न होता है । **समायारिं वितहं ओसण्णो पावती तत्थ ॥४३४६॥-चूर्णि।** संयम समाचारी से विपरीत आचरण करने वाला "अवसन्न" कहा जाता है । संयम समाचारियें निम्न समझें-

आवासग सज्झाए, पडिलेहज्झाण भिक्ख भत्तट्ठे ।
काउस्सग्ग-पडिक्कमणे, कितिकम्म णेव पडिलेहा ॥४३४६॥
आवासगं अणियतं करेति, हीणातिरित्त विवरीयं ।
गुढवयण-णियोग-वलयमाणे, इणमो उ ओसण्णो ॥४४४७॥

१-आवासग-"आवस्सही" आदि दस प्रकार की समाचारी ।
२-सज्झाए-स्वाध्याय-सूत्रपौरूषी अर्थपौरूषी करना ।
३-पडिलेह-दोनों समय वस्त्र पात्रादि का प्रतिलेखन करना ।
४-झाण(ध्यान)- पूर्व रात्रि या पिछली रात्रि में ध्यान करना ।
५-भिक्खं- दोष रहित गवेषणा करना ।
६-भत्तट्ठे- आगमोक्त विधि से आहार करना ।
७-काउसग्ग- गमनागमन, गोचरी, प्रतिलेखन आदि का कायोत्सर्ग करना ।
८-पडिक्कमणे- एकाग्र चित्त से चिंतन युक्त प्रतिक्रमण करना ।
९-कितिकम्मं- कृतिकर्म यथासमय सविधि गुढ व पर्याय ज्येष्ठ को विनय वंदन करना ।
१०-पडिलेहा(प्रतिलेखन)- बैठना आदि प्रत्येक कार्य देखकर करना तथा प्रत्येक वस्तु देखकर या प्रमार्जन कर उपयोग में लेना ।

जो इन दस प्रकार की समाचारियों को कभी करता है; कभी नहीं करता है, कभी विपरीत करता है । तथा शुद्ध पालन के लिये गुरूजनों द्वारा प्रेरणा किये जाने पर उनके वचनों की उपेक्षा या अवहेना करता है । वह "अवसन्न" कहा जाता है ।

तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय काल का ध्यान न रखना अर्थात् यथासमय(चाउक्कालसज्झायं) नहीं करना । ३४ अस्वाध्याय व कालिक उत्कालिक सूत्रों का ध्यान न रखना । प्रतिलेखन करते समय आपस में बातचीत करता । एकाग्रचित से अर्थ चिंतन करते हुए भावपूर्वक प्रतिक्रमण न करना । गोचरी में आलस वृति रखना, गवेषणा में उपेक्षा करना । टीपन, थाली आदि में मंगाकर आहार लेना, आहार करने की विधि का पालन नहीं करना अर्थात् परिभोगेषणा के ५ दोष तथा **चवचव, सुड सुड** आवाज करते हुए, नीचे गिराते हुए, अत्यन्त जल्दी व अत्यंत धीरे आहार करना, प्रमाद-स्खलनाओं का तत्काल मिच्छामि दुक्कडं न देना आदि संयम-विधि के विपरीत आचरण करना, यह सब "अवसन्न" विहार है ।

३-कुसील-कुशील :-

जो निन्दनीय कार्यों में अर्थात् संयम-जीवन में नहीं करने योग्य

निषिद्ध कार्यों में लगा रहा है, वह "कुशील" कहा जाता है ।

कोउय भूतिकम्मे, पसिणापसिणं णिमितमाजीवी ।
कक्क कुढय सुमिण लक्खण, मूल मंत विज्जोवजीवी कुसीलो उ ॥४३४५॥

१–जो कौतुककर्म करता है ।
२–भूतिकर्म करता है ।
३–अगुष्ठप्रश्न या बाहुप्रश्न का फल कहता है अथवा आँखों में अंजन करके प्रश्नोत्तर करता है।
४–अतीत की, वर्तमान की और भविष्य की बातें बताकर आजीविका करता है ।
५–जाति, कुल गण, कर्म और शिल्प से आजीविका करता है ।
६–लौध्र, कल्क आदि से अपनी जंघा आदि पर उबटन करता है ।
७–शरीर की कुचेष्टाएँ करता है ।
८–शुभाशुभ स्वप्नों का फल कहता है ।
९–स्त्रियों के या पुढषों के मस–तिल आदि लक्षणों का शुभाशुभ फल कहता है ।
१०–अनेक रोगों के उपशमन हेतु कंदमूल का उपचार बताता है अथवा गर्भ गिराने का महापाप(मूलकर्म दोष) करता है ।
११–मंत्र या विद्या से आजीविका करता है । वह "कुशील" कहा जाता है ।

४–संसत्त :–

संखेवओ इमो–जो जारिसेसु मिलति, सो तारिसो चेव भवति, एरिसो संसत्तो णायव्वो ॥–**चूर्णि ।** जो जैसे साधुओं के साथ रहता है, वैसा ही हो जाता है । वह संसक्त कहा जाता है । गाथा–

पासत्थ अहाछंदे, कुसील ओसण्णमेव संसत्ते ।
पियधम्मो पियधम्मेसु चेव इणमो तु संसत्तो ॥४३५०॥

जो पासत्थ, अहाछंद, कुशील और ओसण्ण के साथ मिलकर वैसा ही बन जाता है तथा प्रियधर्मी के साथ में रहता हुआ पियधर्मी बन जाता है । इस तरह की प्रवृत्ति करने वाला "संसक्त" कहलाता है। गाथा–

पंचासवपवत्तो, जो खलु तिहिं गारवेहिं पडिबद्धो ।
इत्थि–गिहि संकिलिट्ठो, संसत्तो सो य णायव्वो ॥४३५१॥

जो हिंसा आदि पाँच आश्रवों में प्रवृत्त होता है । ऋद्धि, रस, साता इन तीन गर्वों में प्रतिबद्ध होता है । स्त्रियों के साथ भी मिल जाता है और गृहस्थों से संश्लिष्ट होता है अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से गृहस्थ के परिवार, पशु आदि के सुख-दु:ख सम्बन्धी कार्य करने में प्रतिबद्ध हो जाता है, इस प्रकार जैसा चाहे वैसा बन जाता है वह **संसक्त** है ।

चूर्णि– अहवा–संसत्तो अणेगढवी नटवत् एलकवत् ।

भावार्थ– जो नट के समान अनेक रूप और भेड़ की ऊन के समान अनेक रंगों को धारण कर सकता है एवं छोड़ सकता है, ऐसा बहुरूपिया स्वभाव वाला "संसक्त" कहा जाता है ।

५–नितिय–नित्यक :–

जो मासकल्प व चातुर्मासिककल्प की मर्यादा का उल्लंघन करके निरंतर एक ही क्षेत्र में रहता है वह **कालातिकांत–नित्यक** कहलाता है, तथा मासकल्प और चातुर्मासिक कल्प पूरा करके अन्यत्र दुगुणा समय बिताये बिना उसी क्षेत्र में पुन: आकर निवास करता है; वह "उपस्थाननित्यक" कहलाता है । इस प्रकार आच० श्रु० २, अ०२, ऊ०२ में कही गई उपस्थान क्रिया का तथा कालातिक्रांत क्रिया का सेवन करने वाला **नित्यक–नितिय** कहलाता है । अथवा जो अकारण सदा एक स्थान पर ही स्थिर रहता है, विहार नहीं करता है वह भी नित्यक कहा जाता है ।

६–काहिय(काथिक) :–

सज्झायादि करणिज्जे जोगे मोत्तुं जो देसकहादि कहातो कहेति सो काहिओ ॥ –चूर्णि भाग ३ पृ० ३९८ ।

स्वाध्याय आदि आवश्यक कृत्यों को छोड़ करके जो देशकथा आदि कथाएँ करता रहता है वह **काथिक** कहा जाता है ।

आहार, वस्त्र, पात्र, यश या पूजा–प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए जो

धर्मकथा कहता है अथवा जो सदा धर्मकथा करता ही रहता है, वह भी **काथिक** कहा जाता है । **–भाष्य गा० ४३५३ ।**

समय का ध्यान न रखते हुए धर्मकथा करते रहने से प्रतिलेखन प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, ध्यान आदि कार्य यथासमय नहीं किये जा सकते, जिससे संयमी जीवन अनेक दोषों से दूषित हो जाता है ।

समाचार पत्रों में और तत्सम्बन्धी विकथाओं में संयम का अमूल्य समय बिताने वाला भी काथिक है । वह आर्त–रौद्र ध्यान एवं कर्म बंध को प्राप्त करता रहता है और आत्मा का अहित करता है । अतः विकथाओं में समय बिताने वाला, आहारादि के लिए धर्मकथा करने वाला और सदा धर्मकथा ही करते रहने वाला ये तीनों ही **काथिक** कहे गये हैं ।

७–पासणिय (प्रेक्षणिक) :–

जणवय ववहारेसु, णडणट्टादिसु वा जो पेक्खणं करेति सो पासणिओ । –चूर्णि ।

जनपद आदि में अनेक दर्शनीय स्थलों का या नाटक नृत्य आदि का जो प्रेक्षण करता है वह संयम लक्ष्य तथा जिनाज्ञा की उपेक्षा करने से **पासणिय** प्रेक्षणिक कहा जाता है ।

८–मामक :– ममीकार करेंतो मामओ ।

आहार उवहि देहे, वीयार विहार वसहि कुल गामे ।
पडिसेहं च ममत्तं, जो कुणति मामओ सो उ ॥४३५९॥

भावार्थ :– जो आहार में आसक्ति रखता है, संविभाग नहीं करता है, निमन्त्रण नहीं देता है, उपकरणों में अधिक ममत्व रखता है, किसी को अपनी उपधि के हाथ नहीं लगाने देता है, शरीर में ममत्व रखता है, कुछ भी कष्ट परीषह सहने की भावना न रखते हुए सुखैषी रहता है। स्वाध्याय स्थल व परिष्ठापन भूमि में भी अपना अलग स्वामित्व रखते हुए दूसरों को वहाँ बैठने का निषेध करता है । मकान में, सोने, बैठने या उपयोग में लेने के स्थानों में अपना स्वामित्व रखता है, दूसरों को उपयोग में नहीं लेने देता है । श्रावकों के ये घर या गाँव आदि मेरी सम्यक्त्व में है । इनमें कोई विहार नहीं कर सकता, अपना बना नहीं सकता

इत्यादि संकल्पों से गाँव या घरों को मेरे क्षेत्र, मेरे श्रावक, ऐसी चित्त वृत्ति रखता हुआ ममत्व करता है, घमण्ड करता है, कलह फैलाता है, वह **मामक** कहलाता है । क्यों कि ममत्व करना साधु के लिए निषिद्ध है ।

ममत्व नहीं करने के आगम वाक्य :–

१. अवि अप्प्णो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं । –दश० अ० ६० गा. २२

२. समणं संजयं दंतं हणिज्जो कोई कत्थइ ।
णत्थि जीवस्स णासुत्ति, एवं पेहेज्ज संजए ॥–उत्त.अ.२.गा.२७

३. जे ममाइयमइं जहाइ, से चयई ममाइयं,
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि ममाइयं॥–आचा.श्रु १.अ.२.उ.६।

किसी भी पदार्थ– गाँव, घर, शरीर, उपधि आदि में जिसका ममत्व अर्थात् मेरा-मेरा रूप आसक्तिभाव नहीं है, वास्तव में वही वीतरागमार्ग को जानने समझने वाला मुनि है ।

४. असमाणो चरे भिक्खू, णेव कुज्जा परिग्गहं,
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए ॥–उत्तरा. अ. २. गा. १७

भावार्थ– मुनि ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए कहीं भी अपना घर न बनावे, अड्डा न जमावे, गृहस्थों में ममत्व बुद्धि करके आसक्त न बने, किसी को भी अपना मेरा ऐसा मान कर परिग्रह वृत्ति न करें। अपने शरीर में भी मेरा पन न बढ़ावें ।

इन अनेक आगमोक्त विधानों की उपेक्षा करके तथा संयम या वैराग्य भाव को कम करके ऐहिक लोकिक भावनाओं से जो मुनि उपर्युक्त पदार्थों में ममत्व–आसक्ति करता है, मेरा मेरा करते हुए, सोचते हुए उनके निमित्त से कलह करता है, घमण्ड करता है या अशान्त हो जाता है, वह **मामक** कहा जाता है ।

९. संप्रसारिक :–

असंजयाण भिक्खु, कज्जे असंजमप्पवत्तेसु ।
जो देति सामत्थं, संपसारओ उ नायव्वो ॥– भाष्य गा. ४३६१

भावार्थ– गृहस्थ के कार्यों में अल्प या अधिक भाग लेने वाला या

सहयोग देने वाला **संप्रसारिक** कहा जाता है । जो साधु सांसारिक कार्यों में प्रवृत्त होकर गृहस्थों के पूछने पर या बिना पूछे ही अपनी सलाह देवे कि "ऐसा करो" "ऐसा मत करो" **ऐसा करने से बहुत नुकसान होगा, मैं कहूँ वैसा ही करो**, इस प्रकार के कथन करने वाला "संप्रसारिक" कहा जाता है ।

उदाहरणार्थ कुछ कार्यों की सूची :-

१-विदेशयात्रार्थ जाने के समय का मुहूर्त देना ।
२-विदेश यात्रा करके वापिस आने पर प्रवेश समय का मुहूर्त देना ।
३-व्यापार प्रारंभ करने का और नौकरी पर जाने का मुहूर्त बताना ।
४-किसी को धन व्याज से दो या न दो, ऐसा कहना ।
५-विवाह आदि सांसारिक कार्यों के मुहूर्त बताना ।
६-तेजी, मंदी सूचक निमित्त-शास्त्रोक्त लक्षण देखकर व्यापारिक भविष्य बताना अर्थात् यह चीज खरीद लो, यह बेच दो इत्यादि कहना ।

इस प्रकार के और भी गृहस्थों के सांसारिक कार्यों में कम ज्यादा भाग लेने वाला "संप्रसारिक" कहलता है । **-चूर्णि गा. ४३६२ ॥**

१०. अहाछंद(स्वछंद) :-

अपने अभिप्राय-विचारों के अनुसार प्ररूपणा करने वाला अर्थात् आगम की या भगवदाज्ञा की अपेक्षा न रखते हुए स्वमति निर्णयानुसार प्ररूपणा करने वाला 'यथाछंद' कहलाता है ।

उस्सुत्तमणुवइट्ठं, सच्छंद विगप्पियं अणणुवादी ।
परतत्ति पवत्ते, तिंतिणे य इणमो अहाछंदो ॥३४९२॥

भावार्थ- सूत्र से विपरीत, आचार्यादि की परम्परा से अप्राप्त, अपने ही मति से निर्णित, जो कि किसी सूत्र या अर्थ या तदुभय का अनुसरण करने वाले नहीं हो, इस प्रकार के विचारों की प्ररूपणा करने वाला **यथाछंद** कहलाता है तथा जो गृहस्थ के कार्यों की टीका करने में लगा रहने वाला, दूसरे साधु या गृहस्थों के अवगुण अपवाद बोलने वाला, दूसरों की निंदा और खुद की प्रसंशा करते रहने वाला, स्त्रीकथा आदि विकथाओं में प्रवृत्त, **तिणतिणाट** प्रकृतिवाला अर्थात् बात-बात

में क्रोध करके स्वयं परेशान होने वाला अर्थात् आहार उपधि मकान आदि के अनुकूल नहीं मिलने पर बड़बड़ाट करने वाला भी **यथाछंद** कहलाता है । **॥३४९२॥**

उत्सूत्र प्रढपणा सम्बन्धी छोटे बड़े उदाहरण :-

(१) पात्र प्रतिलेखनिका व मुहपति दो का एक उपकरण कर दो, सम्पूर्ण प्रमार्जना कार्य(शरीर पात्र आदि का) मुंहपति से ही कर लेना चाहिए । इसमें क्या विरोध है, एक उपकरण कम होने से अल्प उपकरणता होती है ।
(२) दांत से नख काट लेना चाहिए नखछेदनक लाने की जरूरत नहीं है।
(३) पात्र के लेप किए बिना ही काम में लेना । लेप कार्य में बहुत दोष (प्रमादादि) होता है ।
(४) हरी घास पर से भी पत्थर आदि लेने में कोई दोष नहीं बल्कि दबे हुए जीवों को पत्थर हटाने से शान्ति मिलती है ।
(५) उद्‌गम आदि दोष से शुद्ध हो तो सैय्यातरपिंड, राजपिंड आदि ग्रहण कर लेना चाहिए, इसमें कोई दोष नहीं है ।
(६) पलियंक आदि नये हो और उसमें खटमल आदि जीव न हो तो उस पर सोना चाहिए । इसमें कोई दोष नहीं है ।
(७) गृहस्थ के घर में बैठने में क्या दोष है ? यदि साधु वहाँ बैठेगा तो कुछ न कुछ धर्म का ही उपदेश देगा, इसलिए बहुत लाभ होगा ।
(८) गृहस्थ के घर उसके बर्तनों में खा लेने से क्या दोष है ? बल्कि मांगने के लिए घर-घर फिरने से जो हीलना होती है उसकी कमी ही होगी ।
(९) दोष रहित कुशल चित्त वाला साधु यदि साध्वी के उपाश्रय में बैठ जाय तो क्या दोष है ? यदि वहाँ बैठने मात्र से अकुशल चित्त होता हो तो अन्यत्र भी साध्वी के पास बैठने से दोष हो जायेगा ।
(१०) यदि कोई अन्य दोष नहीं लगता हो तो मास कल्प से ज्यादा भी रह जाना चाहिये और जहाँ दोष की संभावना हो वहाँ उससे पहले ही विहार कर देना चाहिए । अतः मासकल्प का नियम रखने में कोई प्रयोजन नहीं है ।

(११) जहाँ दो राज्यों में आपस में विरोध चल रहा हो वहाँ नहीं जाना या अनार्य क्षेत्रों में नहीं जाना आदि नियम करना अयुक्त है । क्योंकि परीषह तो सहन करना ही है और शरीर ममत्व तो दीक्षा ली जभी छोड दिया जाता है । तो "वहाँ नहीं जाना–वहाँ नहीं जाना" आदि निर्देशों की क्या आवश्यकता है ?

(१२) उद्गमादि दोष से शुद्ध वस्त्र पात्र हो तो चौमासे में क्यों नहीं लेना ? इसमें क्या दोष है ? ममत्व भाव न हो तो ।

(१३) सदा एक जगह साधु को रहने में क्या दोष, है ? बल्कि विचरने में अनेक दोष है ।

(१४) कोई भी दोष लगाये बिना गृहस्थ द्वारा लाया गया आहार वस्त्र ग्रहण करने में कोई दोष नही है ।

(१५) अज्ञात घरों से थोड़ा थोड़ा लेते हुए घूमने में भूख प्यास परिश्रम (थकान) आदि अनेक दोष होते हैं, अत: भक्ति वाले घरों में ही निर्दोष आहार ग्रहण कर लेना चाहिए ।

इत्यादि आगम विपरीत स्वछंद मति परूपणा के सैकडों हजारों विकल्प हो सकते हैं यथासम्भव विवेचन समझ लेना चाहिए । अंत में स्वच्छंद प्ररूपणा को भाष्य में एक "रूपक" के द्वारा बताया है—

एक गृहस्थ के चार पुत्र थे । पिता ने चारों पुत्रों को कहा खेत में जाओ और खेती का कार्य करो । उसमें से एक पुत्र पिता की आज्ञा अनुसार ही खेत के कार्य में लग जाता है । दूसरा गांव के बाहर जाकर बगीचे में ठंडी छाया में आराम करता है । तीसरा गांव में ही मंदिर आदि में जुआ आदि खेलने लग जाता है । चौथा घर में ही रह कर कुछ भी करता रहता है ।

किसी समय पिता काल कर जाने से धन चारों को संविभाग में मिल गया । जुआ खेलने वाले को भी और मेहनत करने वाले को भी।

पहले पुत्र के समान कल्प मर्यादाओं का पालन करने वाले उद्यत विहारी–शुद्धाचार पालने वाले हैं । दूसरे पुत्र के समान नित्य एक स्थान पर रहने वाले हैं । तीसरे पुत्र के समान पासत्था आदि है । चौथे पुत्र के समान गृहस्थ श्रावक है । तीर्थंकर रूपी पिता का धन जो ज्ञान दर्शन

चारित्र और उससे प्राप्त जो मोक्ष सुख है वह तो सब में समान विभक्त हो जायेगा । जो तुम दुष्कर क्रिया कलाप करते हो उस संयम का लाभ हमें सुख से बैठे ही स्वत: हो जायेगा ।

सारार्थ– इस तरह मुख्यतया आगम निरपेक्ष स्वमति परूपण करने वाला साधु ही "यथाछंद" कहलाता है ।

पार्श्वस्थादि ये कुल दस दूषित आचार वाले कहे गये हैं । आगम के प्रायश्चित वर्णन अनुसार इनकी भी तीन श्रेणियाँ बनती हैं– १. उत्कृष्ट दूषितचारित्र, २. मध्यम दूषित चारित्र, ३. जघन्य दूषित चारित्र ।

१. प्रथम श्रेणी में– "यथाछंद" का ग्रहण होता है । इसके साथ वन्दन व्यवहार, आहार, वस्त्र, शिष्य आदि का आदन–प्रदान व गुणग्राम करने का, वाचना देने लेने का गुरूचौमासी प्रायशिचत्त आता है ।

२. दूसरी श्रेणी में– पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और नित्यक इन पाँच का ग्रहण होता है । इनके साथ वन्दन व्यवहार, आहार, वस्त्रादि का आदान-प्रदान व गुणग्राम करने का, वांचणी लेने-देने का लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है व शिष्य लेने-देने का लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

३. तृतीय श्रेणी में– काथिक, प्रेक्षणिक, मामक और संप्रसारिक, इन चार का ग्रहण होता है । इनके साथ वन्दन व्यवहार, आहार–वस्त्र आदि का आदान-प्रदान व गुणग्राम करने का लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है । शिष्य लेन-देन का कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है तथा वांचणी लेन-देन का भी प्रायश्चित्त नहीं है ।

प्रथम श्रेणी वाले की प्ररूपणा अशुद्ध है । अत: आगम विपरीत प्ररूपणा वाला होने से वह उत्कृष्ट दोषी है ।

द्वितीय श्रेणी वाले महाव्रत, समिति, गुप्तियों के पालन में दोष लगाते हैं और अनेक आचार सम्बन्धी सूक्ष्म-स्थूल दूषित प्रवृत्तियाँ करते हैं, अत: ये मध्यम दोष है ।

तीसरी श्रेणी वाले एक सीमित तथा सामान्य आचार–विचार में दोष लगाने वाले हैं, अत: ये जघन्य दोषी हैं । अर्थात् कोई केवल

मुहूर्त बताता है, कोई केवल ममत्व करता है, कोई केवल विकथाओं में समय बिताता है, कोई दर्शनीय स्थल देखता रहता है । अन्य कुछ भी दोष नहीं लगाता है । ये चारों मुख्य दोष नहीं है अपितु सामान्य दोष हैं ।

मस्तक व आँख उत्तमांग हैं । पांव, अंगुलियां, नख, अधमांग है । अधमांग में चोट आने पर या पांव में केवल कीला गड़ जाने पर भी जिस प्रकार शरीर की शान्ति या समाधि भंग हो जाती है । इसी प्रकार सामान्य दोष से भी संयम-समाधि तो दूषित होती ही है ।

इस प्रकार तीनों श्रेणियों वाले दूषित आचार के कारण शीतल-विहारी(शिथिलाचारी) कहे जाते हैं किन्तु जो इन अवस्थाओं से दूर रहकर निरतिचार संयम का पालन करते हैं वे उद्यतविहारी- उग्रविहारी (शुद्धाचारी) कहलाते हैं ।

परस्पर वंदन निर्णय :-

(१) दूसरी और तीसरे श्रेणी वाले पहली श्रेणी वाले को वंदन आदि करे तो प्रायश्चित्त आता है । किन्तु दूसरी तीसरी श्रेणी वाले आपस में या शुद्धाचारी छहों निर्ग्रन्थों को वंदन करे तो प्रायश्चित्त नहीं आता हैं ।

(२) शुद्धाचारी उक्त तीनों श्रेणी वालों को वंदन आदि करे तो प्रायश्चित्त आता है किन्तु दूसरी और तीसरी श्रेणी वालों को गीतार्थ के निर्णय एवं आज्ञा से वंदन करे तो प्रायश्चित्त नहीं आता है ।

(३) शुद्धाचारी शुद्धाचारी को वंदन करे तो कोई भी प्रायश्चित्त नहीं आता है । और शिथिलाचारी शिथिलाचारी को वंदन करे तो उसको भी कोई प्रायश्चित्त नहीं है ।

(४) प्रथम श्रेणी के अतिरिक्त किसी को सकारण परिस्थिति में गीतार्थ की आज्ञा होने पर भी जो वंदन आदि न करे तो वह भी प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।

(५) शुद्धाचारी भी यदि अन्य शुद्धचारी को वंदन आदि नहीं करे तो वे भी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं एवं जिन शासन के अपराधी हैं ।

ooooo

निबंध-१५

पासत्था आदि की प्रवृत्ति वाला भी निर्ग्रन्थ

पासत्था आदि की व्याख्या करते हुए संयम विपरीत जितनी प्रवृत्तियों का यहाँ कथन किया गया है, उनका विशेष परिस्थितिक अपवाद रूप में गीतार्थ या गीतार्थ की नेश्राय से सेवन किये जाने पर तथा उनकी श्रद्धा प्ररूपणा आगम के अनुसार रहने पर एवं उस अपवाद स्थिति से मुक्त होते ही प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध संयम आराधना में पहुँचने की लगन(हार्दिक अभिलाषा) रहने पर, वह पासत्था आदि नहीं कहा जाता है । किन्तु प्रतिसेवी निर्ग्रन्थ कहा जाता है ।

शुद्ध संस्कारों के अभाव में, संयम के प्रति सजग न रहने से, अकारण दोष सेवन से, स्वच्छंद मनोवृत्ति से, आगमोक्त आचार के प्रति निष्ठा न होने से, निषिद्ध प्रवृत्तियाँ चालू रखने से तथा दोष प्रवृत्ति सुधारने व प्रायश्चित्त ग्रहण करने का लक्ष्य न होने से, उन सभी छोटी या बड़ी दूषित प्रवृत्तियों को करने वाले **पासत्था** आदि कहे जाते हैं । इन अवस्थाओं में वे निर्ग्रन्थ के दर्जे से बाहर गिने जाते हैं ।

१. इन पासत्था आदि का स्वतंत्र गच्छ भी हो सकता है । **२.** कहीं वे अकेले-अकेले भी हो सकते हैं । **३.** उद्यतविहारी गच्छ में रहते हुए भी कोई भिक्षु व्यक्तिगत दोषों से पासत्था आदि हो सकता है तथा **४.** पासत्था आदि के गच्छ में भी कोई शुद्धाचारी हो सकता है । इनका यथार्थ निर्णय तो आगमज्ञाता विशिष्ट अनुभवी या सर्वज्ञ सर्वदर्शी कर सकते हैं, कदाचित् स्वयं की आत्मा भी निर्णय कर सकती है ।

:: शुद्धाचारी भी कोई पासत्था आदि शिथिलाचारी ::

इस युग के कुछ श्रमण पाँचों महाव्रतों का एवं संपूर्ण जिनाज्ञा का परिपूर्ण पालन करते हैं ऐसा प्रचलित परम्परा के अनुसार माना जाता है किन्तु आगम विपरीत प्रवृत्तियों का एवं परंपराओं का जब तक पूर्ण संशोधन न हो तब तक उनका भी

आगमानुसार पाँचों महाव्रतों को या सम्पूर्ण जिनाज्ञा को पालन करना नहीं कहा जा सकता । अर्थात् शुद्धाचारी श्रमणों को भी पूर्व निबंधों में कही गई जिनाज्ञाओं से विपरीत प्रवृत्तियों के सूक्ष्मावलोकन से अपने शुद्धाचार या शिथिलाचार का परीक्षण अवश्य करना चाहिए ।

निबंध- १६

अवंदनीय वंदनीय का सूक्ष्म-स्थूल ज्ञान

अवन्दनीय कौन होता है ? इसका भाष्य गाथा ४३६७ में स्पष्टीकरण किया गया है-

मूलगुण उत्तरगुणे, संथरमाणा वि जे पमाएंति ।
ते होंत अवंदणिज्जा, तट्ठाणारोवणा चउरो ॥

अर्थ :- जो **सशक्त या स्वस्थ** होते हुए भी **अकारण** मूलगुण या उत्तरगुण में प्रमाद करते हैं अर्थात् संयम में दोष लगाते हैं, पार्श्वस्थ आदि स्थानों का सेवन करते हैं वे शुद्धाचारी श्रमणों के लिये अवन्दनीय होते हैं । उन्हें वन्दन करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है । अर्थात् जो परिस्थितिवश मूलगुण या उत्तरगुण में दोष लगाते हैं वे अवन्दनीय नहीं होते हैं । वन्दन करने या नहीं करने के उत्सर्ग, अपवाद की चर्चा सहित **विस्तृत जानकारी** के लिये आवश्यक निर्युक्ति गा० ११०५ से १२०० तक कुल-९५ गाथा और उसकी टीका का अध्ययन करना चाहिए । सामान्य पाठकों के लिये उसका संक्षिप्तसार यहाँ दिया जायेगा एवं सामाजिक संप्रेक्षण भी प्रस्तुत किया जायेगा ।

उत्सर्ग से वन्दनीय अवन्दनीय :-

असंजयं न वंदिज्जा, मायरं पियरं गुढं ।
सेणावई पसत्थारं, रायाणं देवयाणि य ॥

समणं वंदिज्ज मेहावी, संजयं सुसमाहियं ।
पंचसमिय तिगुत्तं, असंजम दुगंच्छगं ॥-गा.११०५-६ आव नि.

भावार्थ :- भिक्षु माता, पिता, गुढ, राजा, देवता आदि कोई भी असंयति को वंदन नहीं करे ॥१॥

बुद्धिमान मुनि सुसमाधिवंत, संयत, पाँच समिति तीन गुप्ति से युक्त तथा असंयम से दूर रहने वाले श्रमणों को वन्दना करे ॥२॥

दंसण णाण चरित्ते, तव विणए निच्च काल पासत्था ।
एए अवंदणिज्जा, जे जसघाई पवयणस्स ॥६॥

भावार्थ :- जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और विनय की अपेक्षा सदैव पार्श्वस्थ आदि भाव में ही रहते हैं साथ ही जो जिन शासन का अपयश करने वाले हैं, वे भिक्षु अवन्दनीय हैं ।

अपवाद से वंदनीय :- वंदण विसेस कारणा इमे-

परियाय परिस पुरिसं, खेत्त कालं च आगमं णाउं ।
कारणजाए जाते, जहारिहं जस्स जं जोग्गं ॥४३७२॥

वायाए णमोक्कारो, हत्थुस्सेहो य सीसनमणं च ।
संपुच्छणं, अच्छणं च, छोभ-वंदणं, वंदणं वा ॥४३७३॥

एयाइं अकुव्वंतो, जहारिहं अरिह देसिए मग्गे ।
न भवइ पवयण भत्ति, अभत्तिमंतादिया दोसा ॥४३७४॥

भावार्थ :- दीक्षा पर्याय, परिषद, पुढष, क्षेत्र, काल, आगम ज्ञान आदि कोई भी कारण को जानकर चारित्रगुण से रहित को भी यथायोग्य (१) **मत्थएण वंदामि** बोलना, (२) हाथ जोड़ना, (३) मस्तक झुकाना, (४) सुखसाता पूछना (५) उनके पास खड़े रहना (६) संक्षिप्त वंदन (७) परिपूर्ण वंदन आदि क्रमिक यथावश्यक विनय व्यवहार करना चाहिए । क्यों कि अरिहन्त भगवान के शासन में रहे हुए भिक्षु को उपचार से भी यथायोग्य व्यवहार न करने पर जिन शासन की भक्ति नहीं होती है, किन्तु अभक्ति ही होती है, जिससे लोक निंदा आदि अन्य अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ।

पासत्था आदि में निम्न गुण हो सकते हैं- बुद्धि, नम्रता, दान ढचि, अति-भक्ति, व्यवहारशील, सुंदरभाषी, वक्ता, प्रिय भाषी, ज्ञानी, पंडित, बहुश्रुत, जिनशासन प्रभावक, विख्यात कीर्ति, अध्ययन

शील, पढ़ाने में कुशल, समझाने में दक्ष, दीर्घ संयम पर्याय, शुद्ध ब्रह्मचारी, विविध लब्धि संपन्न आदि । अत: कभी सकारण मर्यादित वंदनादि व्यवहार गीतार्थ के निर्णय से रखना आवश्यक भी हो जाता है ।

वंदनीय अवंदनीय का सामाजिक सूक्ष्मावलोकन :–

पूर्व काल में पार्श्वनाथ भगवान के रंग बिरंगे वस्त्र वाले या सदा प्रतिक्रमण भी नहीं करने वाले, मासकल्प मर्यादा भी नहीं पालने वाले इत्यादि विचित्र समाचारी वाले श्रमण भी ग्राम नगर में आ जाते तो वहाँ के श्रमणोपासक उनका दर्शन सेवा पर्युपासना आदि करते थे और भगवान महावीर के श्रमण आ जाते तो भी वही व्यवहार रखते थे ।

आज भी गुजरात सौराष्ट्र में गच्छ समुदाय समाचारी का भेद रखे बिना श्रावकों का व्यवहार सभी संप्रदाय के श्रमणों के साथ ऐसा ही देखा जाता है ।

अन्य प्रान्तों में कई श्रमण या श्रमणोपासक एक दूसरे गच्छ के श्रमणों के प्रति हीन भावना, उपेक्षा या अनादर भावना रखते हैं और मेरा तेरा पन गुढओं के प्रति रख कर शुद्ध व्यवहार से वंचित रहते हैं । श्रावकों द्वारा गुढओं को वंदन न करने में दो कारण सामने आते हैं– (१) इनकी **क्रिया ठीक नहीं** है । (२) ये **हमारे गुढओं को वंदन नहीं करते** या इसके श्रावक हमारे गुढओं को वंदन नहीं करते इसलिए हम भी नहीं करते ।

इसमें **दूसरा कारण** तो स्पष्टत: व्यक्ति को जैनत्व से भी च्युत करता है क्यों कि जहाँ गुढ के प्रति गुण बुद्धि नहीं होकर मेरे तेरे की वृत्ति घुस जाती है फिर तो वह धर्म क्षेत्र ही कैसे गिना जा सकता है ? उसमें तो केवल अपनी कलुस या संकीर्ण मानस वृत्ति का पोषण मात्र है, वहाँ जैनत्व भाव भी नहीं पाया जा सकता ।

प्रथम कारण भी कहने मात्र का ही है । वास्तव में क्रिया का महत्व न होकर उसके पीछे भी रागद्वेषात्मक विचार ही अधिक है । क्यों कि इन्हीं क्रियाओं के रहते जब ये भिन्न गच्छीय साधु मैत्री सम्बन्ध कर लेते हैं तो श्रमण श्रमणोपासक सभी के लिए वंदनीय हो जाते है और जब इन साधुओं का किसी कषाय वृत्ति के कारण मैत्री सम्बन्ध टूट जाता है तो ये उन्हीं श्रमणों श्रमणोपासकों के लिए उसी

क्रियाओं के रहते हुए भी अवंदनीय हो जाते हैं । अत: वंदना न करने के पीछे वास्तव में क्रिया की अपेक्षा कषाय और तुच्छ भावों की प्रमुखता है । जब कोई उत्कृष्टाचारी विशाल श्रमण संघ में मिल जाते हैं तो इनके सभी साधु श्रावकों के लिए श्रमण संघ के संत वंदनीय हो जाते हैं और जब ये अपनी किसी भी संकीर्ण भावना से पुन: श्रमण संघ से अलग हो जाते हैं तो श्रमण संघ के साधु-साध्वी इनके लिए अवंदनीय हो जाते हैं ।यथा–आचार्यश्री गणेशीलालजी म॰सा॰ तथा आचार्यश्री हस्तिमलजी म॰सा॰ श्रमणसंघ में मिले और अलग हुए तब ।

ये शुद्धाचारी श्रमण श्रावकों को यह भी सिखाते हैं कि अन्य जैन श्रमणों को वंदन करने में समकित में दोष लगता है, समकित मलिन होती है या समकित नष्ट हो जाती है किन्तु जब ये ही उत्कृष्टाचारी कभी श्रमण संघ में मिल जाते हैं या किसी गच्छ के साथ प्रेम संबन्ध जोड़ लेते तब उन्हें वंदन करने पर इन श्रमणों और श्रमणोपासकों की समकित नही जाती है यह बडे ही आश्चर्य की बात है ।

इन उत्कृष्टाचारी गच्छों का कोई साधु आत्म शान्ति समाधि के लिए यदि गच्छ का त्याग कर देता है तो दूसरे ही दिन संपूर्ण उसी क्रिया के रहते हुए भी ये श्रमण श्रमणोपासक उसे अवंदनीय समझने लग जाते है । यह मेरे-तेरे का साम्राज्य नहीं तो और क्या है ? क्रिया का तो मात्र बहाना ही है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

तथ्य यही है कि ढोल तो क्रिया का पीटा जाता है किन्तु वास्तव में मेरा-तेरा पन का झगड़ा और कषाय कलह अभिमान का साम्राज्य ही अधिक है । तभी एक सरीखी समाचारी वालों के फूट से हुए दो टुकडो में परस्पर साधु-श्रावको का वंदन व्यवहार पाप रूप बन जाता है इसलिये उपर सत्य वाक्य कहा गया है कि ढोल तो क्रिया पीटा जाता है परंतु वंदन नहीं करने का मुख्य कारण मेरेतेरे का साम्राज्य ही होता है जो धार्मिकता में निम्न से निम्न कोटि का आचरण होता है ।

धर्मी, शुद्धाचारी और जैन श्रमण श्रमणोपासक तथा वीतराग मार्ग के अनुयायी कहलाने वालों को अपनी इस रागद्वेषात्मक वृत्ति के प्रति शर्म आनी चाहिए एवं उस वृत्ति का त्याग कर प्रेम और

सहृदयता का झरना समाज में बहा कर भावी पीढ़ी को धर्म में जोड़ने के लिए वरदान रूप बनना चाहिए ।

निबंध– १७

शिथिलाचार निबंध के तथा अन्य प्रश्नोत्तर

प्रश्न–१ आगम विपरीत आचरण भी कभी शिथिलचार नहीं होता है यह कैसे ?

उत्तर– (१) शारीरिक अनेक परिस्थितियों से एषणा आदि समितियों में दोष लगाना, छः काया की विराधना रूप प्रथम महाव्रत में दोष लगाना, डाक्टर या दवा आदि के लिये संपत्ति के उपयोग रूप पाँचवें महाव्रत में दोष लगाना इत्यादि आगम विपरीत आचरण ही है । जैसे कि साधु के लिये डाक्टर आदि का 'कार' आदि से आना–जाना, छोटा या बड़ा आपरेशन करना, जिसमें कि पानी एवं अग्नि की विराधना होती है तथा डाक्टरों की प्रवृतियों से त्रस जीवों की व लीलन–फूलण आदि वनस्पति की तथा संमुच्छिम मनुष्यों की विराधना होती है । ये सब आगम विपरीत ही आचरण है । जीवन पर्यन्त का तीन करण तीन योग से साधु के पच्चक्खाण होता है । अतः इस प्रकार महाव्रत आदि का भंग स्पष्ट रूप से आगम विपरीत आचरण है ।

(२) शारीरिक परिस्थितियों के सिवाय भी गीतार्थ साधु के द्वारा, इत्वरिक व व्यक्तिगत रूप से, हानि लाभ के तुलनात्मक विचारों से या आध्यात्मिक दृष्टिकोण कुछ गौण होकर सामाजिक दृष्टिकोण के प्रमुख बनने से, **यह दोषयुक्त प्रवृत्ति है** ऐसा समझते हुए भी, आवश्यक लगने पर ही तथा शीघ्र ही उस प्रवृत्ति का प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करने की भावना सहित, महाव्रत आदि से विपरीत प्रवृत्ति को अपवाद रूप में करना भी आगम विपरीत आचरण तो है ही ।

तथापि ये उक्त दोनों तरह के आपवादिक आचरण **शुद्ध संयम पालन** और **शुद्ध जिनाज्ञा पालन** नहीं कहलाते हुए भी **शिथिलाचार** भी नहीं कहे जा सकते ।

शिथिलाचार वृत्ति में तो उन आगम विपरीत प्रवृत्तियों को पूर्ण रूप से छोड़ने का लक्ष्य नहीं होता है अथवा **ये आगम विपरीत है** ऐसा स्वीकारने की भावना भी कहीं–कहीं नहीं होती है, उसका खेद एवं प्रायश्चित्त कर शुद्ध बनूंगा ऐसी भावना नहीं होती है किंतु कभी कहीं उस प्रवृत्ति को निर्दोष घोषित करने की उल्टीबुद्धि व परूपणा भी रहती है ।

अतः अपवादस्वरूप, व्यक्तिगत इत्वरिक, खेद प्रायश्चित्त की भावना युक्त आगम विपरीत आचरण, दोष रूप होते हुए भी, शिथिलचार नहीं कहलाता है । इस कथन में संशय नहीं करना चाहिए ।

प्रश्न–२ पूर्वाचार्यो के द्वारा बनाये गये कई नियमों का पालन नहीं करना भी शिथिलचार नहीं है ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उत्तर– पूर्वाचार्यों के दो प्रकार समझना चाहिये । (१) पूर्वधर तथा (२) पूर्वज्ञान रहित । पूर्वधर के भी दो प्रकार– (१) दस पूर्व से कम ज्ञान वाले (२) दस पूर्व से चौदह पूर्व तक के ज्ञानी ।

दस पूर्व से चौदह पूर्व तक के ज्ञानी द्वारा रचे गये नियम परिपूर्ण प्रमाण की कोटि में गिने जाते हैं और उनकी रचना को श्रुत, शास्त्र या आगम अथवा भगवद् वाणी कहा जा सकता है ।**(नंदी सूत्र व बृहत् संग्रहणी गाथा १५४ के आधार से)** तथा शेष आचार्यों की रचना के शास्त्र उनके समकक्ष नहीं कहे जाते अर्थात् उनकी रचना की प्रमाणिकता व सम्यकता में परिपूर्णता न होकर भजना होती है– **नंदी सूत्र।**

अतः आचार्यों द्वारा उन्नति के दृष्टिकोण से बनाये गये नियम होते हुए भी उनमें से कई नियमों में छाद्मस्थिक दोष, अति प्रवर्तन व आगम विपरीतता आदि दोषों की संभावना रह सकती है एवं कुछ नियम इन दोषों से रहित भी हो तो भी सर्व क्षेत्र, काल या सभी गच्छ या प्रत्येक व्यक्ति के लिये आगम नियम के समान महत्वशील या जरूरी नहीं बन सकते ।

प्रश्न–३, परम हितैषी, धुरंधर विद्वान, बहुश्रुत, आचार्यों के द्वारा निर्मित नियम की भी कोई अल्प ज्ञानी साधु उपेक्षा करे यह अनधिकार चेष्टा नहीं होगी ?

उत्तर– किसी भी पूर्वाचार्यों के बनाये नियमों के पालन की अनावश्यकता का निर्णय साधारण ज्ञानी या सामान्य साधु के अधिकार का विषय नहीं समझना चाहिए ।

जो साधु गीतार्थ हो, आचारांग निशीथ को अर्थसहित कंठस्थ धारण करने वाला हो, अन्य आचार शास्त्रों के अध्ययन से निष्णात हो, अनेक आगम स्थलों का सम्बन्धित विचार कर समन्वय कर शुद्ध शास्त्र आशय को सहज समझ सकता हो तथा अनेक शास्त्रों का चिंतनपूर्वक अनेक बार अध्ययन या अध्यापन किया हो अर्थात् बहुश्रुत हो, संयम आराधन की रूचि वाला हो और आगम के प्रति श्रद्धा व निष्ठा रखने वाला हो, वही क्षेत्र काल आदि का अवसर देखकर आगम को आगे रखते हुए एवं उन्हें ही सर्वोपरि मानते हुए, उन्हीं के आधार से व्यक्तिगत या स्वगच्छ के लिये उन पूर्वाचार्यों के बनाये नियमों के अपालन का निर्णय ले सकता है एवं उन्हें आगम से अतिरिक्त या अनावश्यक होने का निर्णय दे सकता है, क्यों कि जिन शासन में व्यक्ति महत्व को मुख्य नहीं करके निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् आगम की मुख्यता रखकर संयम में विचरण करना बताया गया है यथा– **निग्गंथं पावयण पुरओ काउं.........।**

अतः इस संदर्भ में गीतार्थ साधु को आगमाधार से कोई भी निर्णय लेने का अधिकार रहता है,ऐसा समझना चाहिए । किन्तु आगम परिशीलन के बिना स्वछंदता से कोई निर्णय लेने का या नियम बनाने का अथवा प्ररूपणा करने का अधिकार किसी को भी नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिए ।

जो साधारण बुद्धि के साधु होते हैं वे जिस गच्छ या आचार्य आदि के नेतृत्व में रहते हैं उन्हें उनकी आज्ञा में ही चलना जरूरी होता है । उनके गच्छ नायक जिन-जिन पूर्वाचार्यों के बनाये नियमों का व परम्पराओं का पालन करने का आदेश करते हैं या अपनी सामाचारिक व्यवस्था बनाते हैं उन सब नियमों का उस गच्छ वासी प्रत्येक साधु को पालन करना परम आवश्यक होता है । यदि उनका कोई आदेश या नियम स्पष्ट ही आगम विपरीत व संयम बाधक हो तो प्रमाण

सहित विवेक पूर्वक स्पष्ट निवेदन करके यथायोग्य निर्णय किया जा सकता है । यदि इतनी योग्यता व क्षमता न हो तो अनुशासन बद्ध ही रहना ठीक होता है ।

इन सब अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए ही आचार्यों द्वारा निर्मित एवं आगम से अतिरिक्त नियमों के अपालन के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है । साथ ही गच्छ नायक की आज्ञा पालन का परम कर्त्तव्य भी बताया गया है ।

प्रश्न–४ ध्वनि यंत्र में बोलना, आगम, लेख या पेम्पलेट छपाना आदि आगम विपरीत आचरण है? शिथिलाचार है ?

उत्तर– प्रश्न गत सभी प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः आगम विपरीत आचरण है एवं शिथिलाचार की द्योतक है । तथापि यदि किसी की व्यक्तिगत अल्पकालीन आपवादिक परिस्थिति से ये प्रवृत्तियाँ हो और उन्हें दोष समझकर छोड़कर प्रायश्चित्त लेने का संकल्प हो तो शिथिलाचार नहीं है ।

प्रश्न. ५ सोडा, साबुन, सर्फ आदि से वस्त्र आदि धोना आगम विपरीत आचरण है ? व शिथिलाचार है?

उत्तर– सोडा आदि क्षार द्रव्यों से वस्त्रादि धोने में यदि अच्छा दिखने की वृत्ति है तो विभूषा वृत्ति होने से आगम विपरीत आचरण है और विभूषावृत्ति भी एक प्रकार का शिथिलाचार ही है । किन्तु व्यक्तिगत सावधान अवस्था से यदि विभूषावृत्ति न हो और उस वस्त्र प्रक्षालन में संयम, स्वास्थ्य व आवश्यकता या किसी परिस्थिति का कारण हो तो शिथिलचार नहीं है । किन्तु क्षार पदार्थ युक्त पानी में मक्खी आदि संपातिम व कीड़ी आदि भूमिगत जीवों की विराधना से बचने का विवेक न हो तो प्राणी नाशक प्रवृत्ति होने से आगम विपरीत आचरण कहलायेगा ।

प्रश्न. ६ मिट्टी के बर्तन मटकी आदि लेना व वापिस लौटाना आगम विपरीत है ?

उत्तर– मिट्टी के पात्र लेना साधु को कल्पता है । अतः कल्पनीय पात्र को साधु ले सकता है और आवश्यकता न रहने पर छोड़ सकता है।

शारीरिक परिस्थिति के कारण अधिक पात्र रखने की अनुज्ञा है, कारण दूर होने पर वह पात्र छोड़ा जा सकता है । तथा निशीथ सूत्र उद्देशक पांच से पात्र का इस तरह छोड़ना और वस्त्र का इस तरह नहीं छोड़ना फलित होता है । अत: तीनों तरह के पात्र आवश्यक होने पर छोड़ना आगम विपरीत आचरण नहीं कहा जा सकता । इसीलिए यह शिथिलाचर भी नहीं है।

प्रश्न ७. लोहे पीतल आदि के कुण्डे आदि व प्लास्टिक के पात्र तथा बाल्टियाँ गिलास लोटे आदि रखना आगम विपरीत आचरण है ? शिथिलाचार है ?

उत्तर– आचारांग सूत्र में पात्र ग्रहण के विषय में तीन जाति का निर्देश है । ठाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे में तीन की संख्या पूर्वक पात्र की जाति का कथन हुआ है । निशीथ सूत्र उद्देशा १–२–५–१४ आदि में तीन जाति के नाम पूर्वक पात्र विषयक कथन है । बृहत्कल्प आदि अन्य सूत्रों में भी तीन जाति के कथन पूर्वक विषय वर्णन है । निशीथ उद्देशा– ११ में लोहा, पीतल आदि व कांच, पत्थर कपड़ा, दांत, सींग, चर्म आदि के पात्र रखने या उपयोग में लेने पर गुरू चौमासी प्रायश्चित्त आने का कथन है । इत्यादि आगम पाठों के स्वाध्यायी को यह समझना कठिन नहीं हो सकता कि "तीन जाति के पात्र ही साधु को रखना एवं काम में लेना" ऐसा स्पष्ट आगम आशय है । अत: लोहा, पीतल तथा प्लास्टीक आदि कोई भी जाति के पात्र (तीन जाति के सिवाय होने से) रखना या काम में लेना आगम विपरीत आचरण समझना चाहिए। परिस्थितिवश तथा अल्पकालीन या प्रायश्चित्त लेने के संकल्प से युक्त न हो तो शिथिलाचार समझना चाहिये ।

प्रश्न ८. धातु युक्त चश्मा, पेन आदि तथा घड़ी आदि रखना आगम विपरीत आचरण है ? ये शिथिलाचार है ?

उत्तर– संयम तथा शरीर के आवश्यक उपकरण ही रखना साधु को कल्पता है । कुछ उपकरण सभी साधुओं को रखने की ध्रुव आज्ञा होती है । जिसमें रजोहरण व मुँहपति रखना तो नियमा है और शेष का रखना नियमा नहीं है अर्थात् जिनकल्पी स्थविर कल्पी के लिए अलग–

अलग विकल्प है । इसके अतिरिक्त कुछ उपकरण किसी क्षेत्र, काल में संयम के लिए या शारिरिक परिस्थिति से आवश्यक होने पर उस परिस्थिति तक व्यक्तिगत रखने की सकारण अनुज्ञा होती है ।

ध्रुव आज्ञा के उपकरण– रजोहरण, मुंहपत्ति, चद्दर, चोलपट्टा, पात्र, आसन व प्रमार्जनिका (गोच्छग) आदि ।

सकारण रखने के उपकरण– दंडा, लाठी, अवलेखनिका, सूई, कैंची, नखछेदन, कर्णशोधनक, पादप्रोंछनक, चर्मकोश, चर्मछेदनक आदि के नाम आगमों में आये हैं । क्षेत्र, काल व शरीर के प्रसंग से डायरियाँ, चश्मा, पेन्सिल, रबर, आगम की एवं स्तवनादि की पुस्तकें, पेन, घड़ी आदि रखने की प्रवृत्तियाँ भी विभिन्न रूप से चल रही है।

आगमकार का आशय यह स्पष्ट होता है कि १.अत्यन्त आवश्यकता के बिना उपधि संग्रह नहीं बढ़ाना चाहिये । २. आवश्यकता होने पर भी कम से कम रखा जाय यह विवेक होना जरूरी है । ३. संयम जीवन में सादगी की वृत्ति का लक्ष्य रहना भी जरूरी है । ४. मौलिक नियम रूप अहिंसा आदि महाव्रत का और एषणा समिति आदि का पालन भी अवश्य होना चाहिये ।

उपरोक्त निर्देशों का ध्यान रखते हुए धातु या बिना धातु के आवश्यक कोई भी उपकरण रखे जा सकते हैं । किन्तु गच्छ नायक की विशिष्ट आज्ञा प्राप्त किये बिना कोई भी सकारण उपधि ग्रहण नहीं की जा सकती है ।

सूई, कैंची या लिखित–प्रकाशित आगम आदि बहुत जगह सुलभ होने से यथाशक्य नहीं रखने चाहिए । आवश्यकता एवं दुर्लभता के विचार पूर्वक ही रखे जा सकते है । पात्र, वस्त्र व दंड के लिये आगम में जातियों का स्पष्ट निर्देश है अत: उन जाति में से ही कोई ग्रहण करना चाहिए अन्य जाति का नहीं । शेष कर्णशोधनिका, चश्मा आदि **शरीर के** आवश्यक उपकरण अथवा पुस्तक, पेन आदि **ज्ञान–संयम के** आवश्य्क उपकरण, किसी भी जाति का लेना हो तो उपरोक्त विवेक रखना चाहिए ।

पात्र के लिये निषिद्ध जातियों को भ्रम वश अन्य उपकरण में

समझ लेने पर तो काँच आदि के चश्मे व दांत आदि के कर्णशोधनक आदि को रखना भी निषिद्ध होगा, जो किसी को भी मान्य नहीं हो सकता। अतः पात्र के निर्देश को पात्र तक ही सीमित रखना चाहिए।

प्रश्न ९. घड़ी तो रात दिन चलती है व चाबी भरना होता है जिससे वायु काय की विराधना होती है । अतः घड़ी रखना तो आगम विपरीत समझना ही चाहिए ?

उत्तर– वायु काय की विराधना के सम्बन्ध में यह समझें कि फूंकने व वींजने के सिवाय कोई भी प्रवृत्ति यतना पूर्वक की जा सकती है। यह साधु का आचार दशवैकालिक सूत्र में निर्दिष्ट है ।

साधु सैंकड़ों मील चलता है, चद्दर–चोलपट्टा आदि हिलते हैं, हाथ–पाँव हिलते हैं, नाड़ी स्पंदन आदि आभ्यंतर क्रिया होती है। सैंकड़ों पृष्ट लिखने की प्रवृत्ति भी साधु कर सकता है, घंटों तक व्याख्यान स्तवन आदि कर सकता है इनमें मुंह और जीभ कंठ का स्पंदन होता है । पानी कपड़ा हाथ हिलने रूप कपड़े धोने की प्रवृति साधु कर सकता है, इत्यादि कार्यों की अपेक्षा, घड़ी चलने आदि की अयतना ज्यादा नहीं समझनी चाहिए ।

अतः जिस तरह–स्मरण शक्ति की मंदता के कारण से ज्ञान के अनेक उपकरण व उनका वजन बढ़ा है । उसी तरह सूर्य व नक्षत्रों से समय–ज्ञान करना न आने से या शहरी मकान बिजली आदि के कारण, काल ज्ञान होना संभव न रहने से व विहार आदि में क्षेत्र विशेषों में घड़ी की अनुकूलता न होने से, संयम प्रवृत्ति व आगम स्वाध्याय आदि कार्यों में कालज्ञान आवश्यक होने से, घड़ी रखना भी उपरोक्त उपकरणों के समान आपवादिक समझ लेना चाहिए । शिथिलाचार सम्बन्धी निर्णय तो पूर्व के उत्तरों के समान समझना चाहिए अर्थात् अत्यन्त आवश्यकता के बिना उपकरण संग्रह बढ़ाना शिथिलाचार है एवं गीतार्थ की आज्ञा से सकारण कोई भी उपकरण रखना शिथिलाचार नहीं है ।

प्रश्न १०. लोहे–पत्थर आदि के साधन से खाद्य पदार्थ या औषध आदि को कूटना या पीसना आदि कार्य करना साधु को कल्पता है ?

उत्तर– ये कार्य आरंभ जनक व अयतना कारक है । उपरोक्त घड़ी चलने की अयतना से भी बढ़कर है । त्रस जीवों के विराधना की भी अत्यधिक संभावना रहती है तथा कूटना, पीसना आदि यह गृहस्थ प्रवृतिएँ हैं । इन प्रवृत्तियों को साधु के लिये अयोग्य एवं अकल्पनीय आचरण समझना चाहिए । साधु लिंग में ये प्रवृत्तियां अपवाद से करना भी शोभनीय नहीं है । अतः साधु के द्वारा ऐसी प्रवृत्तियों का करना विवेकहीनता का द्योतक है ।

प्रश्न ११. खुले मुख बोलना आगम विपरीत आचरण है ? शिथिलाचार है ?

उत्तर– भगवती सूत्र श. १६ उ. २ में वस्त्र से मुख ढांके बिना बोलने पर सावद्य भाषा अर्थात् सावद्य प्रवृत्ति कही गई है । अतः लापरवाही से खुले मुख बोलते रहना और प्रायश्चित्त नहीं लेना आगम विपरीत आचरण है एवं शिथिलचार है ।

प्रश्न–१२. जमीकंद (अनंतकाय) का खाना व विगय महाविगय का सेवन करना तथा बादाम पिस्ता आदि मेवे खाना आगम विपरीत आचरण है ? व शिथिलचार है ?

उत्तर– अनंत काय, विगय युक्त पदार्थ, महाविगय और मेवे आदि का सेवन प्रायः प्रमाद वृद्धि, इन्द्रियों की चंचलता व प्रकृति विकार आदि दोषों का वर्धक होता है । अतः साधु को साधारणतया इन पदार्थों का वर्जन करना ही हितकर होता है । फिर भी यह अवश्य स्मृति में रखना चाहिए इनका एकांतिक निषेध आगमकार को अपेक्षित नहीं है । प्रमाण के लिये देखें –

अनंतकाय– आचारांग २.१.८ में अशस्त्र परिणत अनंत काय को ग्रहण करने की मना की गई है । आचारांग २.७.२ में अचित अनंत काय ग्रहण करने का कथन है । दशवैकालिक अ. ३ में सचित कंदमूल ग्रहण करना **अनाचार** कहा गया है ।

विगय–महाविगय– ठाणांग सूत्र में ५ विगय, ४ महाविगय और कुल ९ विगय होने का कथन है । जिसमें दो महाविगय सेवन को नरक आयुबंध का कारण आगम में कहा गया होने से शेष दो महा

विगय और ५ विगय रहती है जिसमें **१.** मक्खन ग्रहण विषयक वर्णन कई आगम स्थलों में(छेद सूत्रों में) आता है । **२.** दूध दही आदि विगय ग्रहण बारंबार करते हुए जो बाह्य व आभ्यंतर तप में लीन नहीं रहता उसे **पापी श्रमण** कहा है– उत्तरा. १७, (३) तीर्थंकरों के पारणे में "खीर" "इक्षु रस" आदि ग्रहण करने का वर्णन आता है। **४.** कृष्ण जी के ६ भाई मुनियों के पारणे में "सिंह केशरी मोदक" ग्रहण करने का वर्णन आता है । **५.** तपों की चार परिपाटी करने वाली दीक्षित राणियों की प्रथम परिपाटी में विगय युक्त आहारग्रहण करने का वर्णन अंतगड़ सूत्र में आता है । **६.** आचार्य उपाध्याय की विशिष्ट आज्ञा पूर्वक विगय ग्रहण की जा सकती है, बिना विशिष्ट आज्ञा के विगय ग्रहण करने पर निशीथ सूत्र उद्देशा ४ में प्रायश्चित्त कहा है ।

मेवे– अनेक सूत्रों में **खाइमं साइमं** ग्रहण करने के विधायक पाठ भी है । जिसमें "खाइमं" शब्द में "मेवे"(बादाम आदि) का ग्रहण होता है। अत: एकान्त निषेध की प्ररूपणा करना तो आगम सम्मत नहीं समझना चाहिए । फिर भी इन पदार्थों को यथाशक्य छोड़ना ही संयम साधना का आदर्श आचार है। अत: साधारणतया इन पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए । एकांतिक निषेध आगम में नहीं होने से इनके सेवन को आगम विपरीत आचरण या शिथिलचार है इस रूप में नहीं कहा जा सकता । तथापि रसलोलुप वृत्ति, रसाशक्ति, व अमर्यादा से इन पदार्थों का सेवन करना संयम व समाधि का बाधक होता है, यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए । तथा एषणा के दोषों को टालने का पूर्ण विवेक नहीं रखने पर एवं निमंत्रण या तैयारी पूर्वक रखे हों उन्हें लेने पर, यह आगम विपरीत आचरण व शिथिलचार कहलायेगा ।

प्रश्न– १३ फोटू खिंचवाना, फंड(चंदा) इकट्ठा करना, फ्लश का उपयोग करना आदि प्रवृत्तियाँ शिथिलाचार है ?

उत्तर– संयम व शरीर के प्रयोजन से अपवाद रूप दोष लगाने की प्रवृत्ति में शिथिलाचार नहीं भी होता है । किन्तु प्रश्न गत प्रवृत्तियाँ तो साधु के आचरण योग्य है ही नहीं, अत: स्पष्टत: शिथिलाचार है और भी महाव्रतों व प्रसिद्ध आचारों का अपने संयम निरपेक्ष शिथिल विचारों से भंग करना स्पष्ट रूप से शिथिलाार व स्वच्छंदाचार होता

है जैसे कि– ट्रेन, हवाई जहाज आदि वाहन प्रयोग, आधाकर्मी पानी या आहार लेना, गृहस्थ को विहार में सामान उठाने के लिये साथ रखना या साइकिल ठेला गाड़ी (लारी) साथ रखना, स्थानक या मंदिर बनवाना, अन्य भी निर्माण कार्यों की प्रेरणा करना, निमंत्रण पत्रिका आदि के द्वारा गृहस्थों को बुलाना, इकट्ठा करना; पात्र, कंबल आदि खरीद कर मंगाना; अपने हाथ से लाइट पंखे आदि करना, छकाया का आरंभ करना कराना, स्नान करना, सदा के लिये पेष्ट आदि मंजन करना, गृहस्थों को वस्त्र आहार आदि देना, दर्शनार्थियों के भोजन कार्य में निर्देश करना आदि कितनी ही बड़ी या छोटी स्पष्ट अनाचार प्रवृत्तियाँ समाज में शिथिल मानस से चलती है उनका प्रवृत्ति रूप में आचरण करना और प्रायश्चित्त नहीं लेना यह स्पष्ट रूप से शिथिलाचार है । आपवादिक आचरण एवं प्रायश्चित्त ग्रहण का लक्ष्य हो तो कोई भी प्रवृत्ति शिथिलाचार नहीं है ।

शिथिलाचार की एक या अनेकों प्रवृत्तियाँ करने वाला शिथिलाचारी भी यदि आगम सम्मत आचरण की पुष्टी प्ररूपणा करता है, सरलता पूर्वक अपनी कमजोरी समझता व कहता है तथा आगम सम्मत आचरणों को अपने से ज्यादा पालन करने वालों के प्रति हृदय सहित आदर भाव व सद्व्यवहार रखता है तो वह संयमाभाव या हीन अवस्था में रहते हुए भी समकित का विराधक नहीं हो सकता है तथा उसकी दुर्गति भी नहीं हो सकती है तथा वह सुलभ बोधि होकर शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त भी कर सकता है । शिथिलाचार वृत्ति होते हुए भी उसे शुद्धाचार मानना व कहना, आगम निरपेक्ष मनोनुकूल प्ररूपणा करना व आगम अनुसार चलने की वृत्ति वालों के प्रति आदर भाव न रखकर असद् व्यवहार रखना, मन में उनके प्रति ईर्ष्या द्वेष एवं अनादर भाव रखना इत्यादि वृत्तियाँ समकित की भी विराधना कराने वाली होती है जिससे उसकी दुर्गति व दुर्लभ बोधि होने की संभावना रहती है ।

सरलता, लघुता, सच्चाई, न्याय वृत्ति और निर्मल विचार ये आत्मा में धर्म या समकित टिकने के व आराधना होने के प्रमुख अंग है । अत: इन गुणों को किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ने वाला धर्म प्रेमी

सद्गति व सुलभ बोधि का भागीदार बन सकता है । यह परमार्थ, शुद्धाचारी एवं शिथिलाचारी सभी को ध्यान में रखना चाहिए ।

निबंध-१८

विविध गच्छों की समाचारियों का संकलन

[नोट :- ***संक्षिप्ताक्षर पहचान-श्वे=श्वेताम्बर, मू=मूर्तिपूजक, स्था= स्थानकवासी, प्रा.सं=प्राय: सभी, ज्ञा=ज्ञानगच्छ, संप्र=संप्रदाय, हु.सं=हुक्मी संप्रदाय, गु=गुजरात, गु.ना=नानी पक्ष, तेरा=तेरापंथी ।*]**

१. अचित्त कंद-मूल, मक्खन, कल का बना भोजन एवं बिस्कुट आदि नहीं लेना क्यों कि ये अभक्ष्य है।(श्वे॰मू.) ।

२. कच्चा दही और द्विदल के पदार्थों का संयोग नहीं करना और ऐसे खाद्य पदार्थ नहीं खाना, क्यों कि ये अभक्ष्य है । (श्वे॰मू.) ।

३. सूर्यास्त के बाद मस्तक ढ़ंकना अथवा दिन में भी कभी प्रथम और चतुर्थ प्रहर में कम्बल ओढ़कर बाहर जाना । (स्था॰+मू.) ।

४. लिखने के लिए फाउन्टेन पेन, पेन्सिल और बिछाने के लिए चटाई, पुट्ठे अखबार बारदान आदि नहीं लेना । (अनेक) ।

५. नवकारसी(सूर्योदय बाद ४८ मिनट) के पहले आहार-पानी नहीं लेना या नहीं खाना पीना । (श्वे॰मू.) ।

६. औपग्रहिक आपवादिक उपकरण में भी लोहा आदि धातु के औपग्रहिक उपकरण नहीं रखना।(प्रा.स.) ।

७. आज आहार-पानी ग्रहण किये गये घर से कल आहार या पानी नहीं लेना । अथवा सुबह गोचरी किये गये घर से दोपहर को या शाम को गोचरी नहीं करना । (स्था+ज्ञा.)

८. विराधना न हो तो भी स्थिर अलमारी, टेबल आदि पर रखे गये सचित्त पदार्थों का परम्परा संघट्टा मानना । (प्रा.स.)

९. एक व्यक्ति से एक बार कोई विराधना हो जाय तो अन्य व्यक्ति से या पूरे दिन उस घर में गोचरी नहीं लेना । (**असूझता** कहना यह अनागमिक रूढ़ शब्द है ।) (प्रा.स.)

१०. एक साधु-साध्वी को चार पात्र और ७२ या ९६ हाथ वस्त्र से अधिक नहीं रखना । (आगम में कोई संख्या सूचित नहीं की गई है ।)

११. चौमासी संवत्सरी को दो प्रतिक्रमण करना या पंच प्रतिक्रमण करना, २० या ४० लोगस्स का कायोत्सर्ग करना । (अमुक संप्र.)

१२. स्वयं पत्र नहीं लिखना, गृहस्थ से लिखवाने पर भी प्रायश्चित्त लेना अथवा पोस्टकार्ड आदि नहीं रखना । (प्रा.स.) [वर्षा में या कीड़ियों आदि में गृहस्थ के आने जाने में अधिक दोष लगता है और अपवाद में कम दोष लगे यही क्रमिक विवेक रखना चाहिए।]

जिसके द्वारा लोग आमतौर से लेन देन करते हैं, वे सिक्के आदि धन कहलाते हैं । धन व सोना चांदी रखने की मनाई दशवै. अ. १० गा. ६ में है । तथा उत्तरा. अ. ३५ गा. १३ में सोने चांदी की चाहना मात्र का भी निषेध है । टिकिट पोस्टकार्ड आदि के लिए निषेध नहीं है ।

१३. अनेक साध्वियाँ या स्त्रियाँ हों तो भी पुढष की उपस्थिति बिना साधु को नहीं बैठना । ऐसे ही साध्वी के लिए भी समझ लेना। (प्रा.स.)

१४. रजोहरण या प्रमार्जनिका आदि को सम्पूर्ण खोलकर ही प्रतिलेखन करना । (प्रा.सं.)

१५. गृहस्थ ताला खोलकर या चूलिया वाले दरवाजे खोलकर आहार दे तो नहीं लेना । (प्रा.सं.)

१६. ग्रामान्तर से दर्शनार्थ आये श्रावकों से निर्दोष आहारादि भी नहीं लेना । (ज्ञान.)

१७. डोरी पर कपड़े नहीं सुखाना । परदा नहीं बांधना । (ज्ञान.)

१८. प्रवचन सभा में साधु के समक्ष साध्वी को पाट पर नहीं बैठना। (प्रा.सं.)

१९. दाता के द्वारा घुटने के ऊपर से कोई पदार्थ गिर जाए तो उस घर को "असूझता" कहना या अन्य किसी भी विराधना से किसी के घर को "असूझता" करना । (प्रा.सं.)

२०. चद्दर बांधे बिना उपाश्रय से बाहर नहीं जाना अथवा चद्दर चोलपट्टा गांठ देकर नहीं बांधना । (स्था.प्रा.सं.)

२१. धातु की कोई वस्तु अपने पास नहीं रखना । चश्मा आदि में

धातु की कील भी नहीं होना । पाटा, आलमारी धातु का काम में आ सकता है । पड़िहारी पुस्तक में धातु रह सकती है । (प्रा.सं.)

२२. शीशे की बनी होने से पेन्सिल व उसके लिखे अक्षर भी पास में नहीं रखना । (हु.सं)

२३. मिट्टी का पात्र मटकी आदि भी पड़िहारा नहीं लेना । (ज्ञान.)

२४. घर में पहुंचने के समय जो व्यक्ति 'असूझता' हो फिर वह 'सूझता' भी हो जाय तो भी उसके मदद करने पर या बोलने पर फिर दिन भर वहाँ कुछ नहीं लेना । (प्रा.सं.)

२५. बहुत बड़ी जाजम, चट्टाई आदि के परम्परा संघट्टे का भी वर्जन करना । (प्रा.सं.)

२६. कई फल-मेवे अचित व निर्दोष हो तो भी नहीं लेना । बादाम पिस्ता आदि के अचित टुकड़े भी नहीं लेना । बिस्कूट, पीपरमेन्ट, डबलरोटी आदि नहीं लेना । (अनेक-व्यक्तिगत सं.)

२७. साधु को अकेले नहीं विचरना और साध्वी को दो से नहीं विचरना। ***(वास्तवमें आचार्य उपाध्याय के अकेले विचरने का व साध्वी के अकेले विचरने का तथा प्रवर्तिनी को दो से विचरने का आगम में स्पष्ट निषेध है । इसके अलावा कोई भी एकान्त निषेध नहीं है ।)*** (परंपरा)

२८. सदा दैवसिक प्रतिक्रमण में धर्मध्यान के भेदों का चिन्तन व रात्रि के प्रतिक्रमण में तप चिंतन पाँचवें आवश्यक में करना । लोगस्स नहीं करना ।(गु.सं.)

२९. २४ ही घन्टे मुँहपत्ति बांधे रखना या मुँहपत्ति हाथ में रखना या बिना डोरे से बांधना । खुले मुंह बोलने से सावध भाषा होती है, इतना ही आगम में है । **-भ. श. १६ उ. २ ।** बांधने या नहीं बांधने की वार्ता आगम में नहीं है किंतु सावध भाषा से बचने के लिए बोलते समय मुख वस्त्रिका बांधना आवश्यक है, ऐसा समझना चाहिए ।) (अनेक) (समुत्थान सूत्र में बांधने का मूलपाठ है, वह सूत्र नंदी की आगम सूचि में है । उसे किसी ने ३२, ४५ या ८४ आगम संख्या में नहीं गिना है ।

३०. डोरी हिल जावे या डोरी पर कपड़ा हिल जावे तो घर असूझता करना । (व्यक्तिगत)

३१. प्लास्टिक की थेली, मेणिया आदि नहीं रखना । (व्यक्तिगत)

३२. गीली स्याही आदि (अखाद्य) पदार्थ भी रात में अपने पास नहीं रखना (जब कि उस पानी के अंश में पेय गुण रहता ही नहीं हैं, परिणामांतर प्राप्त होता है ।) (प्रा.स.)

३३. चातुर्मास में बेंडेज की पट्टी नहीं लेना । (जब कि वह कपड़ा तो औषध रूप में परिणत हो जाता है ।) एवं रूई धागा आदि भी नहीं लेना ।(परम्परा)

३४. प्रथम प्रहर के आहार पानी की सूक्ष्म-सूक्ष्मतर संघट्टा की परम्परा मानना । (परम्परा)

३५. साधु के उपाश्रय में दिन में भी अमुक समय के सिवाय बहिनें या साध्वियें बैठना नहीं ।(प्रा.स.)

३६. संत सतियों को साथ में या एक दिशा में विहार नहीं करना, एक दिशा में स्थंडिल नहीं जाना । (परम्परा)

३७. फूंक देना या हवा करना (वींजना) इन दो कार्यों के निषेध के अतिरिक्त अन्य अनेक नियम व मर्यादाएं । (आगमानुसार इन दो कार्यों के सिवाय यतानापूर्वक कोई भी प्रवृत्ति करना वायुकाय के सम्बन्ध से निषिद्ध नहीं है ।) (व्यक्तिगत)

३८. रजोहरण की डंडी पर वस्त्र होना आवश्यक है । पूंजणी एवं डंडा आदि पर नहीं ।(प्रा.स)

३९. उपाश्रय में रात में गृहस्थ एक तरफ अपना आवश्यक पानी रख सकते हैं किन्तु बिजली के वल्व आदि सीढ़ियों में भी थोड़ी देर के लिए नहीं जलाना । (आगम में तो "रात्रि भर जहाँ अग्नि दीपक जले वहाँ ठहरना नहीं, यह विधान है ।) (परम्परा)

४०. परिस्थितिवश भी कभी शल्य चिकित्सा कराना ही नहीं किन्तु वैसी परिस्थिति में पुनः गृहस्थ बन जाना । (दिगम्बर) (गु.ना.)

४१. उपवास में ही दीक्षा देना, अर्थात् दीक्षा के दिन उपवास होना ही ।(व्यक्तिगत)

४२. रेफ्रीजरेटर की वस्तु बाहर निकाली पड़ी हो उसे भी अत्यंत ठण्डी होने से नहीं लेना । फ्रीज का बाहर से भी संघटा मानना । आइस्क्रीम को सचित्त मानना । (व्यक्तिगत)

४३. बहिनों को प्रार्थना में साधु या भाइयों के साथ नहीं बोलना । (व्यक्तिगत)

४४. बेले के आगे की तपस्या में राख का भी धोवण पीना नहीं कल्पता है ।(व्यक्तिगत)

४५. घर में अकेली स्त्री हो तो वहाँ अकेला साधु गोचरी नहीं जाना । (तेरा.)

इन नियमों का आगमिक कोई स्पष्ट पाठ उपलब्ध नहीं है । कई व्यक्तिगत विचारों से और कई अर्थ परम्परा से या नये अर्थ की उपज से समय-समय पर बनाई गई समाचारी रूप है । इनमें कुछ सामान्य सावधानी रूप है, कुछ अतिसावधानी रूप है ।

इन नियमों के बनने बनाने में मुख्य लक्ष्य, प्राय: संयम सुरक्षा का व आगमोक्त नियमों के पालन में सहयोग सफलता मिलते रहने का है । अत: कई नियम उपादेय तो है ही फिर भी आगम से पूर्ण स्पष्ट प्रमाणित नहीं होने से इनके पालन या अपालन को शुद्धाचार व शिथिलाचार की भेद रेखा में नहीं जोड़ा जा सकता है एवं आगम के समकक्ष बल नहीं दिया जा सकता ।

जो इनका पालन करे तो वह उनका परम्परा-पालन, सावधान दशा व विशेष त्याग नियम रूप कहा जा सकता है । इसमें कोई निषेध नहीं है । किन्तु इन नियमों का पालन करने वाला ही शुद्धाचारी है और पालन नहीं करने वाला शिथिलाचारी है, ऐसा समझना या कहना बुद्धिमानी या विवेकयुक्त नहीं है ।

कई साधक इन अतिरिक्त नियमों का पालन तो करते हैं और मौलिक आगमोक्त नियमों की उपेक्षा या विडम्बना भी कर देते हैं, विपरीत प्ररूपणा भी कर देते हैं वे शुद्धाचारी नहीं कहला सकते ।

जो साधक मौलिक आगमोक्त स्पष्ट निर्देशों का यथावत पालन करे और इन अतिरिक्त नियमों में जो-जो नियम स्वगच्छ में निर्दिष्ट

है उनकी पालना करे एवं अन्य की नहीं करे तो उन्हें शिथिलाचारी नहीं समझा जा सकता ।

जो साधक आगमोक्त स्पष्ट निर्देशों व परम्पराओं दोनों का यथावत् पालन करते है उनके तो शुद्धाचारी व विशिष्टाचारी कहलाने में कोई बाधा को स्थान ही नहीं है किन्तु यदि ५-१० भी या एक भी आगमोक्त निर्देश का परम्परा के आग्रह से उन श्रमणों के अपालन होता हो तो वे भी शुद्धाचारी के दर्जे से नीचे ही कहलायेंगे, चाहे कितनी ही विशिष्ट समाचारियों की पालना करे ।

शुद्धाचार या शिथिलाचार का स्वरूप समझे बिना मनमाने निर्णय करने या कहने से या तो निरर्थक रागद्वेष बढ़ाना होता है या शिथिलाचार का पोषण होता है एवं निशीथ उद्दे. १६ से प्रायश्चित्त आता है।

इस विवेचन से सही अर्थ समझ कर शिथिलाचार के असत्य आक्षेप लगाने से बचा जा सकता है और पक्षान्धता से शुद्धाचारी मानने से भी बचा जा सकता है तथा अपनी आत्मा का सही निर्णय भी लिया जा सकता है । साथ ही शुद्ध समझ पूर्वक शक्ति अनुसार शुद्ध आराधना की जा सकती है ।

पुनश्च सार भूत चार वाक्य :-

१. प्रवृत्ति रूप (रिवाज रूप) आगम विपरीत आचरण करना शिथिलाचार है ।

२. परिस्थिति व अपवाद मार्ग रूप आगम विपरीत आचरण शिथिलाचार नहीं है ।

३. पूर्वधरों के सिवाय अन्य आचार्यादि के द्वारा बनाये, **आगम से अतिरिक्त** नियमों के विपरीत आचरण करना शिथिलाचार नहीं है ।

४. जिस गच्छ में या संघ में रहना हो उस गच्छ या संघ के नायक की संयम पोषक आज्ञा व उस गच्छ की किसी भी समाचारी का पालन नहीं करना तो शिथिलाचार ही क्या स्वच्छन्दाचार भी है ।

निबंध– १९

दीक्षार्थी एव दीक्षा गुढ की योग्यता

(निशीथ सूत्र उद्दे०११, सूत्र–८३, ८४) प्रथम सूत्र में जानते हुए भी अयोग्य को दीक्षा देने का प्रायश्चित्त कहा है और द्वितीय सूत्र में अनजान में दीक्षा दिये बाद अयोग्य मालूम होने पर भी बड़ी दीक्षा देने का प्रायश्चित्त कहा है। इससे यह ध्वनित होता है कि दीक्षा देने के बाद अयोग्यता की जानकारी होने पर बड़ी दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

अयोग्यता की जानकारी न होने के दो कारण हो सकते हैं। यथा– १. दीक्षार्थी द्वारा अपनी अयोग्यता को छिपा लेना। २. दीक्षा दाता के द्वारा छानबीन करके पूर्ण जानकारी न करना।

दूसरे कारण में दीक्षादाता का प्रमाद है । अतः वह सूत्रोक्त प्रयाश्चित्त को प्राप्त करता है। उपस्थापित करने के बाद उसे छोड़ना या न छोड़ना यह गीतार्थ के निर्णय पर निर्भर है। व्याख्याओं के अनुसार प्रव्रज्या के अयोग्य व्यक्ति निम्नलिखित है– **(१)** बाल– आठ वर्ष से कम उम्र वाला, **(२)** वृद्ध–सत्तर (७०) वर्ष से अधिक उम्र वाला **(३)** नपु सक– जन्म नपु सक, कृतनपु सक, स्त्रीनपु सक तथा पुढषनपु सक आदि। **(४)** जड़– शरीर से अशक्त, बुद्धिहीन व मूक **(५)** क्लीब– स्त्री के शब्द, रूप, निमन्त्रण आदि के निमित्त से उदित मोह–वेद को निष्फल करने में असमर्थ **(६)** रोगी– १६ प्रकार के रोग और आठ प्रकार की व्याधि में से किसी से युक्त । शीघ्रघाती व्याधि कहलाती है और चिर घाती रोग कहलाते है– भाष्य गाथा ३६४७। **(७)** चोर– रात्रि में घर-घर प्रवेश कर चोरी करने वाला, जेब काटने वाला इत्यादि अनेक प्रकार के चोर ड़ाकू लुटेरे **(८)** राज्य का अपराधी– किसी प्रकार का राज्य विढद्ध कार्य करने पर अपराधी घोषित किया हुआ **(९)** उन्मत्त यक्षाविष्ट या पागल **(१०)** चक्षुहीन– जन्मान्ध हो या बाद में किसी एक या दोनों आँखो की ज्योति चली गई हो **(११)** दास– किसी का खरीदा हुआ या अन्य किसी कारण से दासत्व को प्राप्त **(१२)** दुष्ट– कषाय दुष्ट(अति क्रोधी), विषयदुष्ट(विषयासक्त) **(१३)** मूर्ख– द्रव्यमूढ़ आदि

अनेक प्रकार के मूर्ख, भ्रमित बुद्धि वाले **(१४)** कर्जदार– अन्य की सम्पत्ति उधार लेकर न देने वाला **(१५)** जुंगित(हीन)– जाति से, कर्म से, शिल्प से हीन और शरीर से हीना ग(जिसके नाक, कान, पैर, हाथ आदि कटे हुए हों) **(१६)** बद्ध– कर्म, शिल्प, विद्या, म त्र आदि सीखने या सिखाने के निमित्त किसी के साथ प्रतिज्ञा बद्ध हो **(१७)** भृतक– दिवस भृतक, यात्राभृतक आदि **(१८)** अपहृत– माता-पिता आदि की आज्ञा बिना अदत्त लाया हुआ बालक आदि, **(१९)** गर्भवती स्त्री **(२०)** बालवत्सा– दूध मुहे बच्चे वाली स्त्री । भाष्य में इनके अनेक भेद-प्रभेद किए है तथा इन्हें दीक्षा देने से होने वाले दोषों और उनके प्रायश्चित्तों के अनेक विकल्प कहे हैं।

आगमविहारी, अतिशयज्ञानी इन भाष्यवर्णित अनेकों को यथा अवसर दीक्षा दे सकते हैं। 'बालवय' वाले को कारणवश गीतार्थ दीक्षा दे सकते हैं, ऐसा तो ठाणा ग सूत्र अ० ५, सूत्र १०८ मूलपाठ से फलित होता है किंतु बालवत्सा और गर्भवती को तथा नपुंसक को कारणवश भी दीक्षा नहीं दे सकते ।

भाष्य–गाथा ३७३८ में, बीस प्रकार के अयोग्यों में से कुछ को यथावसर दीक्षा दी भी जा सकती है, ऐसा बताया है किन्तु गीतार्थ भिक्षु को यह अधिकार भी अन्य गीतार्थ की सलाह से ही होता है। अन्यथा उसे भी प्रायश्चित्त आता है।

दीक्षा के योग्य व्यक्ति – १. आर्यक्षेत्रोत्पन्न, २. जातिकुल सम्पन्न, ३. लघुकर्मी–हलुकर्मी, ४. निर्मल बुद्धि, ५. स सार समुद्र में मनुष्य भव की दुर्लभता, जन्म–मरण के दुःख, लक्ष्मी की च चलता, विषयों के दुःख, इष्ट पदार्थो के स योग-वियोग, आयु की क्षणभ गुरता, मरण पश्चात् परभव का अति रौद्र विपाक और स सार की असारता आदि भावों को जानने वाला, ६. स सार से विरक्त, ७. अल्पकषायी, ८. अल्पहास्यादि(कुतहलवृत्ति से रहित), ९. सुकृतज्ञ, १०. विनयवान, ११. राज्य–अपराध रहित, १२. सुड़ोल शरीर, १३. श्रद्धावान, १४. स्थिर चित्त वाला एव १५. सम्यग् उपसम्पन्न(शिक्षा ग्रहण)।

इन गुणों से सम्पन्न को दीक्षा देनी चाहिए अथवा इनमें से एक

दो गुण न भी हो तो बहुगुण सम्पन्न को दीक्षा दी जा सकती है। *–अभि. राजेन्द्र कोष 'पवज्जा' पृ. ७३९ ।*

दीक्षादाता के लक्षण– उपर्युक्त पन्द्रह गुण सम्पन्न तथा १६. विधिपूर्वक प्रव्रजित १७. सम्यक् प्रकार से गुढकुलवास सेवी, १८. प्रव्रज्या ग्रहण काल से सतत अखण्ड़ शीलवाला १९. परद्रोह रहित, २०. यथोक्त विधि से ग्रहीत सूत्र वाला २१. सूत्रों एव अध्ययनों आदि के पूर्वापर सम्बन्धों के ज्ञान में निष्णात २२. तत्त्वज्ञ २३. उपशा त २४. प्रवचन वात्सल्ययुक्त २५. प्राणियों के हित में रत २६. आदेय वचन वाला २७. भावों की अनुकूलता से शिष्यों की परिपालना करने वाला २८. गम्भीर (उदारमना) २९. परीषह आदि आने पर दीनता न दिखाने वाला ३०. उपशमलब्धि सम्पन्न(उपशा त करने में चतुर) उपकरण लब्धि सम्पन्न, स्थिरहस्त लब्धि सम्पन्न, ३१. सूत्रार्थवक्ता ३२. स्वगुढअनुज्ञात गुढपद वाला। ऐसे गुण वाले विशिष्ट साधक को गुढ बनाना चाहिए। *– अभि. राजेन्द्र कोष 'प्रवज्जा' पृ. ७३४*

दीक्षार्थी के प्रति दीक्षादाता का कर्तव्य– (१) दीक्षार्थी से पूछना चाहिए कि 'तुम कौन हो ?' क्यों दीक्षा लेते हो ? तुम्हें वैराग्य उत्पन्न कैसे हुआ ? इस प्रकार पूछने पर योग्य प्रतीत हो तथा अन्य किसी प्रकार से अयोग्य ज्ञात न हो तो दीक्षा देना कल्पता है।

(२) दीक्षा के योग्य जानकर उसे यह साध्वाचार कहना चाहिए यथा– १. प्रतिदिन भिक्षा के लिये जाना, २. भिक्षा में अचित्त पदार्थ लेना, ३. वह भी एषणा आदि दोषों से रहित शुद्ध ग्रहण करना, ४. लाने के बाद बाल–वृद्ध आदि को देकर समविभाग से खाना, ५. स्वाध्याय में सदा लीन रहना, ६. आजीवन स्नान नहीं करना, ७. भूमि पर या पाट पर शयन करना, ९. लोच आदि के कष्टों को सहन करना आदि । यदि वह यह सब सहर्ष स्वीकार कर ले तो उसे दीक्षा देनी चाहिए। *–नि. चूर्णि पृ. २७८ ।*

नवदीक्षित भिक्षु के प्रति दीक्षादाता का कर्तव्य– १. 'शस्त्रपरिज्ञा' का अध्ययन कराना अथवा 'छज्जीवनिका' का अध्ययन कराना । **२.** उसका अर्थ-परमार्थ समझाना कि ये पृथ्वी आदि जीव है, धूप छाया

पुद्गल आदि अजीव है तथा पुण्य-पाप, आश्रव-स वर, निर्जरा, ब ध, मोक्ष, नव पदार्थ, कर्मब ध के हेतु व उनके भेद, परिणाम इत्यादि का परिज्ञान कराना। **३.** इन्हीं तत्वों को पुनः समझाकर उसे धारण कराना, श्रद्धा कराना। **४.** तत्पश्चात् जीवों की यतना का विवेक सिखाना। **५.** सिखाने के बाद श्रद्धा एव विवेक की परीक्षा करना, यथा– खड़े रहने, बैठने, सोने या परठने के लिये सचित्त भूमि बताकर कहना कि 'यहाँ खड़े रहो, परठो इत्यादि। सचित्त स्थल देखकर वह चिंतित होता है या नहीं, इसकी परीक्षा करना।' इसी तरह तालाब आदि की गीली भूमि में चलने, दीपक सरकाने, गर्मी में हवा करने तथा वनस्पति व त्रस युक्त मार्ग में चलने का कहकर परीक्षा करना। एषणा दोष युक्त भिक्षा ग्रहण करने का कहकर परीक्षा करना।

इस प्रकार अध्ययन, अर्थज्ञान, श्रद्धान, विवेक तथा परीक्षा में योग्य हो उसे उपस्थापित करना चाहिए। उल्लिखित विधि से जो योग्य न बना हो उसे उपस्थापित करने पर (बडी दीक्षा देने पर)प्रायश्चित्त आता है। *–निशीथ चूर्णि पृ. २८० ।*

निबंध– २०

आचार्य आदि प्रमुखों का उत्तरदायित्व

आठ स पदाओं से सम्पन्न भिक्षु को जब आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है, तब वह सम्पूर्ण स घ का धर्मशास्ता हो जाता है। तब उसे स घ स रक्षण एव स वर्धन के अनेक कर्तव्यों के उत्तर-दायित्व निभाने होते हैं। उनमें प्रमुख उत्तरायित्व चार प्रकार के हैं– १. आचार विनय २. श्रुत विनय ३. विक्षेपणा विनय ४. दोषनिर्घातना विनय । दशा॰द॰४ ।

(१) आचार विनय :– गणी(आचार्य) का मुख्य कर्तव्य है कि सबसे पहले शिष्यों को आचार सम्बन्धी शिक्षाओं से सुशिक्षित करे। वह आचार सम्बन्धी शिक्षा चार प्रकार की है– **१.** स यम की प्रत्येक प्रवृत्ति के विधि-निषेधों का ज्ञान कराना, यतिधर्म, परिषहजय आदि का यथार्थ बोध देना। **२.** अनेक प्रकार की तपश्चर्याओं के भेद-प्रभेदों

का ज्ञान कराना। तप करने की शक्ति और उत्साह बढ़ाना। निर तर तपश्चर्या करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए आगमोक्त क्रम से तपश्चर्या की एव पारणा में परिमित पथ्य आहारादि के सेवन की विधि का ज्ञान कराना। **३.** गीतार्थ अगीतार्थ भद्रिक परिणामी आदि सभी की स यम साधना निर्विघ्न स पन्न होने के लिए आचार शास्त्रों तथा छेदसूत्रों के आधार से बनाये गये गच्छ सम्बन्धी नियमों, उपनियमों, (समाचारी) का सम्यक् ज्ञान कराना। **४.** गण की सामूहिक चर्या को त्याग कर एकाकी विहार चर्या करने की योग्यता का, वय का तथा विचरणकाल में सावधानियाँ रखने का ज्ञान कराना, एव एकाकी विहार करने की क्षमता प्राप्त करने के उपायों का ज्ञान कराना। क्यों कि भिक्षु का द्वितीय मनोरथ यह है कि 'कब मैं गच्छ के सामूहिक कर्तव्य से मुक्त होकर एकाकी विहारचर्या धारण करूँ।' अतः एकाकी विहारचर्या की विधि का ज्ञान कराना आचार्य का चौथा आचार विनय है।

आचारा ग सूत्र श्रु. १ अ. ५ और ६ में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार की एकाकी विहारचर्या के लक्षण बताये गये हैं। उनमें से अप्रशस्त विहारचर्या के वर्णन को लक्ष्य में रखकर वर्तमान में एकल विहारचर्या के निषेध की पर परा प्रचलित है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र एव भिक्षु का द्वितीय मनोरथ तथा गणव्युत्सर्ग तप आदि के इन आगम वर्णनों के उपलब्ध होते हुए एकल विहारचर्या का सर्वथा विरोध करना आगम सम्मत नहीं कहा जा सकता। इस पाठ की व्याख्या में भी स्पष्ट उल्लेख है कि आचार्य एकल विहारचर्या धारण करने के लिए दूसरों को उत्साहित करे तथा स्वय भी अनुकूल अवसर पर निवृत्त होकर इस एकल चर्या को धारण करे। इस सूत्र (दशाश्रुतस्क ध सूत्र) की निर्युक्ति चूर्णि के स पादक प्रकाशक मुनिराजने भी अपने म तव्य में यही सूचित किया हैं कि एकल विहार का एकान्त निषेध करना उचित नहीं है एव ऐसा प्ररूपण अन त स सार बढ़ाने का कारण है। यह आचार्य का चार प्रकार का 'आचारविनय' है।

(२) श्रुतविनय :– १–२. आचार धर्म का प्रशिक्षण देने के साथ-साथ आचार्य का दूसरा कर्तव्य है– आज्ञाधीन शिष्यों को **सूत्र व अर्थ** की

समुचित वाचना देकर श्रुतसम्पन्न बनाना। **३.** उस सूत्रार्थ के ज्ञान से तप स यम की वृद्धि के उपायों का ज्ञान कराना अर्थात् शास्त्रज्ञान को जीवन में क्रियान्वित करवाना अथवा समय-समय पर उन्हें हित शिक्षा देना। **४.** सूत्र ढचि वाले शिष्यों को प्रमाणनय की चर्चा द्वारा अर्थ परमार्थ समझाना। छेद सूत्र आदि सभी आगमों की क्रमशः वाचना देना। वाचना के समय आने वाले विघ्नों का शमन कर श्रुत वाचना पूर्ण कराना। यह आचार्य का चार प्रकार का 'श्रुतविनय' है।

(३) विक्षेपणाविनय :– १. जो धर्म स्वरूप से अनभिज्ञ है, उन्हें धर्म का स्वरूप समझाना। **२.** जो अनगारधर्म के प्रति उत्सुक नहीं हैं उन्हें अनगारधर्म स्वीकार करने के लिए उत्साहित करना। **अथवा १.** यथार्थ स यम धर्म समझाना। **२.** स यम धर्म के यथार्थ ज्ञाता को ज्ञानादि में अपने समान बनाना। **३.** किसी अप्रिय प्रस ग से किसी भिक्षु की स यम धर्म से अढचि हो जाय तो उसे विवेक पूर्वक पुनः स्थिर करना। **४.** श्रद्धालु शिष्यों के स यमधर्म की पूर्ण आराधना कराने में सदैव तत्पर रहना। यह आचार्य का चार प्रकार का 'विक्षेपणाविनय' है।

(४) दोषनिर्घातनाविनय :– शिष्यों की समुचित व्यवस्था करते हुए भी विशाल समूह में साधना करने वाले कोई साधक छद्मस्थ अवस्था के कारण कषायों के वशीभूत होकर किसी दोष विशेष के पात्र हो सकते हैं। **१.** उनके क्रोधादि अवस्थाओं का सम्यक् प्रकार से छेदन करना। **२.** राग–द्वेषात्मक परिणति का तटस्थतापूर्वक निवारण करना। **३.** अनेक प्रकार की आका क्षाओं के अधीन शिष्यों की आका क्षाओं को उचित उपायों से दूर करना। **४.** इन विभिन्न दोषों का निवारण कर स यम में सुदृढ़ करना अथवा शिष्यों के उक्त दोषों का निवारण करते हुए भी अपनी आत्मा को स यमगुणों में परिपूर्ण बनाये रखना। इस प्रकार शिष्यसमुदाय में उत्पन्न दोषों को दूर करना, यह आचार्य का चार प्रकार का 'दोषनिर्घातनाविनय' है।

सम्पूर्ण ऐश्वर्य सम्पन्न जो राजा, प्रजा का प्रतिपालक होता है, वही यशकीर्ति को प्राप्त कर सुखी होता है। वैसे ही जो आठ स पदा युक्त आचार्य शिष्य–समुदाय की विवेक पूर्वक परिपालना करता

हुआ स यम की आराधना कराता है, वह शीघ्र ही मोक्ष गति को प्राप्त करता है। भगवती सूत्र श. ५ उ. ६ में कहा है कि सम्यक् प्रकार से गण का परिपालन करने वाले आचार्य, उपाध्याय उसी भव में या दूसरे भव में अथवा तीसरे भव में अवश्य मुक्ति प्राप्त करते हैं।

आचार्य के स्थान पर अन्य कोई भी उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गुढ आदि गच्छ के प्रमुख अनुशास्ता हो उन सभी को ये सूत्रोक्त कर्तव्यों का पालन और गुणों को धारण करना आवश्यक समझना चाहिए।

निबंध– २१

आचार्य एव शिष्यों के परस्पर कर्तव्य

आचार्य के कर्तव्य :– (१) शिष्यों को स यम सम्बन्धी और त्याग–तप सम्बन्धी समाचारी का ज्ञान कराना एव उसके पालन में अभ्यस्त करना। समूह में रहने की या अकेले रहने की विधियों एव आत्म समाधि के तरीकों का ज्ञान एव अभ्यास कराना।**(२)** आगमों का क्रम से अध्ययन करवाना, अर्थ ज्ञान करवा कर उससे किस तरह हिताहित होता है यह समझाना एव उससे पूर्ण आत्मकल्याण साधने का बोध देते हुए परिपूर्ण वाचना देना। **(३)** शिष्यों की श्रद्धा को पूर्णरूप से दृढ़ बनाना और ज्ञान में एव गुणों में अपने समान बनाने का प्रयत्न करना। **(४)** शिष्यों में उत्पन्न दोष–कषाय, कलह, आका क्षाओं का उचित उपायों द्वारा समन करना। ऐसा करते हुए भी अपने खुद के स यम गुणों की एव आत्म समाधि की पूर्ण रूपेण सुरक्षा एव वृद्धि बनाये रखना।

शिष्यों के कर्तव्य :– (१) आवश्यक उपकरणों की प्राप्ति सुरक्षा एव विभाजन में चतुर होना। **(२)** सदा आचार्य गुढजनों के अनुकूल प्रवर्तन करना। **(३)** गण के यश की वृद्धि, अपयश का निवारण ए व रत्नाधिकों का यथायोग्य आदर भाव और सेवा करने में सिद्धहस्त होना। **(४)** शिष्य वृद्धि, उनके स रक्षण–शिक्षण में सहयोगी होना। रोगी साधुओं की यथायोग्य सार–सम्भाल करना एव मध्यस्थ भाव से साधुओं की शाँति बनाए रखने में निपुण होना।दशा०द०४ ।

निबंध– २२

आचार्य पद की आवश्यकता एव स पदा

साधु-साध्वियों के समुदाय की समुचित व्यवस्था के लिए आचार्य का होना नितान्त आवश्यक होता है। व्यवहार सूत्र उद्देशक तीन में नवदीक्षित(तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय तक), बालक (१६ वर्ष की उम्र तक), एव तढण(४० वर्ष की वय तक के) साधु-साध्वियों को आचार्य एव उपाध्याय की निश्रा के बिना रहने का स्पष्ट निषेध है। साथ ही शीघ्र ही अपने आचार्य, उपाध्याय के निश्चय करने का ध्रुव विधान किया है। साध्वी के लिए 'प्रवर्तिनी' की निश्रा सहित तीन पदवीधरों की निश्रा होना आवश्यक कहा है। ये पदवीधर शिष्य शिष्याओं के व्यवस्थापक एव अनुशासक होते हैं। अतः इनमें विशिष्ट गुणों की योग्यता होना आवश्यक है। व्यवहार सूत्र के तीसरे उद्देशक में इनकी आवश्यक एव औचित्य पूर्ण योग्यता के गुण कहे गए हैं जो आगे निब ध नं. २८ द्वारा समझाये गये हैं।

दशाश्रुत स्क ध सूत्र, दशा–४में आचार्य के आठ मुख्य गुण कहे हैं जिन्हें आठ स पदा भी कहा जाता है, यथा–

१. आचार सम्पन्न– स पूर्ण स यम सम्बन्धी जिनाज्ञा का पालन करने वाला, क्रोध मानादि कषायों से रहित सुन्दर स्वभाव वाला।

२. श्रुत सम्पन्न– आगमोक्त अनुक्रमानुसार अनेक शास्त्रों को क ठस्थ धारण करने वाला एव उनके अर्थ, परमार्थ को धारण करने वाला।

३. शरीर सम्पन्न– समुचित स हनन स स्थान वाला एव सशक्त और स्वस्थ शरीर वाला।

४. वचन सम्पन्न– आदेय वचन वाला, मधुर वचन वाला, राग-द्वेष रहित एव भाषा सम्बन्धी दोषों से रहित वचन बोलने वाला।

५. वाचना सम्पन्न– सूत्रों के पाठों का उच्चारण करने-कराने में, अर्थ परमार्थ को समझाने में तथा शिष्य की क्षमता योग्यता का निर्णय करके शास्त्र ज्ञान देने में निपुण। योग्य शिष्यों को राग-द्वेष या कषाय रहित होकर अध्ययन कराने के स्वभाव वाला।

६. मति सम्पन्न– स्मरण शक्ति सम्पन्न एव चारों प्रकार की बुद्धि से युक्त बुद्धिमान हो अर्थात् भोला भद्रिक न हो।

७. प्रयोग मति सम्पन्न– वाद-विवाद शास्त्रार्थ में, प्रश्नों–जिज्ञासाओं के समाधान देने में, परिषद् का विचार कर योग्य विषय का विश्लेषण करने में एव सेवा व्यवस्था में, समय पर उचित बुद्धि की स्फुरणा हो, समय पर सही लाभदायक निर्णय एव प्रवर्तन कर सके।

८. स ग्रह परिज्ञा सम्पन्न– व्यवस्था एव सेवा के द्वारा साधु-साध्वी की और विचरण तथा धर्म प्रभावना के द्वारा श्रावक-श्राविकाओं की भक्ति, निष्ठा, ज्ञान, विवेक की वृद्धि करने वाला। जिससे स यम के आवश्यक विचरण क्षेत्र, उपधि आहार की प्रचुर उपलब्धि होती रहे एव सभी श्रमण–श्रमणी निराबाध स यम आराधना करते रहें।

निबंध– २३

८ स पदाओं की उपयोगिता एव विवेक

(१) सर्वप्रथम आचार्य का 'आचार–सम्पन्न' होना आवश्यक है क्यों कि आचार की शुद्धि से ही व्यवहार शुद्ध होता है।

(२) अनेक साधकों का मार्गदर्शक होने से 'श्रुतज्ञान से सम्पन्न' होना भी आवश्यक है। बहुश्रुत ही सर्वत्र निर्भय विचरण कर सकता है।

(३) ज्ञान और क्रिया भी 'शारीरिक सौष्ठव' होने पर ही प्रभावक हो सकते हैं, ढग्ण या अशोभनीय शरीर धर्म–प्रभावना में सहायक नहीं होता है।

(४) धर्म के प्रचार प्रसार में प्रमुख साधन वाणी भी है। अत: तीन सम्पदाओं के साथ-साथ 'वचन स पदा' भी आचार्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

(५) बाह्य प्रभाव के साथ-साथ योग्य शिष्यों की स पदा भी आवश्यक है। क्यों कि सर्वगुणसम्पन्न अकेला व्यक्ति भी विशाल कार्य में अधिक सफल नहीं हो सकता। अतः वाचनाओं के द्वारा अनेक बहुश्रुत–गीतार्थ प्रतिभासम्पन्न शिष्यों को तैयार करना होता है अतः 'वाचना देने में कुशल' होना आवश्यक है।

(६) शिष्य भी विभिन्न तर्क, बुद्धि, ढचि, आचार वाले होते हैं। अतः आचार्य का सभी के स रक्षण तथा स वर्धन के योग्य 'बहुमुखी बुद्धि सम्पन्न' होना आवश्यक है।

(७) विशाल समुदाय में अनेक परिस्थितियाँ तथा उलझनें उपस्थित होती रहती हैं। उनका यथासमय शीघ्र समुचित समाधान करने के लिये मतिस पदा के साथ ही प्रयोगमति सम्पदा का होना भी आवश्यक है। अन्य अनेक मतमता तरों के सैद्धान्तिक विवाद या शास्त्रार्थ के प्रस ग उपस्थित होने पर योग्य रीति से उनका प्रतिकार करना होता है। ऐसे समय में तर्क बुद्धि और श्रुत का प्रयोग, धर्म की अत्यधिक प्रभावना करने वाला होता है।

(८) उपरोक्त गुणों से धर्म की प्रभावना होने पर सर्वत्र यश की वृद्धि होने से शिष्य परिवार की वृद्धि होना स्वाभाविक है। विशाल शिष्य-समुदाय के स यम की यथाविधि अराधना हो, इसके लिये विचरण क्षेत्र, उपधि, आहारादि की सुलभता तथा अध्ययन, सेवा, विनय व्यवहार की 'समुचित व्यवस्था' और स यम समाचारी के पालन की देख-रेख, सारणा–वारणा का सुव्यवस्थित होना भी अत्यावश्यक है।यह स ग्रह परिज्ञा स पदा में समाविष्ट है।

इस प्रकार आठों ही सम्पदाएँ परस्पर एक दूसरे की पूरक तथा स्वतः महत्त्वशील हैं। ऐसे गुणों से सम्पन्न आचार्य का होना प्रत्येक गण(गच्छ–समुदाय) के लिये अनिवार्य है। जैसे कुशल नाविक के बिना नौका के यात्रियों को समुद्र में पूर्ण सुरक्षा की आशा रखना अनुचित है, वैसे ही आठ सम्पदाओं से सम्पन्न आचार्य के अभाव में स यम साधकों की साधना सदा विराधना रहित रहे या उसकी सर्वांगीण शुद्ध आराधना हो यह भी सम्भव नहीं है।

प्रत्येक श्रमण का विवेक :– प्रत्येक साधक का भी यह कर्तव्य है कि वह जब तक पूर्ण योग्य और गीतार्थ–बहुश्रुत न बन जाय तब तक उपरोक्त योग्यता से सम्पन्न आचार्य के नेतृत्व में ही अपना स यमी जीवन सुरक्षित रहे, इसके लिए उसे सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। किसी कर्म स योगवश श्रेष्ठ योग्यता से अस पन्न गुढ आचार्य या गच्छ का सहवास प्राप्त हो जाय और उसे अपनी स यम साधना एव आत्म

समाधि में स तोष न हो तो उसे विवेक पूर्वक अकषाय भाव से अपने गच्छ या गुढ का परिवर्तन करना कल्पता है।

ठाणा ग सूत्र में गच्छ परिवर्तन के लिए ऐसे ही अनेक कारणों का स्पष्टीकरण किया है। बृहत्कल्प सूत्र उद्देशक-४ में गच्छ या गुढ के परिवर्तन की विवेकशील विधि का कथन किया गया है । अत: घर छोड़ने वाले साधक को कैसा भी स योग मिल गया हो उसमें दीर्घ-दृष्टि से हानि-लाभ का परिप्रेक्षण कर ग भीरता पूर्वक नया निर्णय लेना जिनाज्ञा में है, ऐसा उपरोक्त निर्दिष्ट आगम पाठों से समझना चाहिये। ध्यान यह रहे कि आगम दृष्टिकोणों की एव आगम विधि विधानों की अवहेलना न होनी चाहिए एव वचन व्यवहार से गुढ रत्नाधिक की अन्य कोई भी आशातना नहीं होनी चाहिए।

निबंध- २४

आगमोक्त ७ पद एव उनकी उपयोगिता

बृहत्कल्प सूत्र, उद्देशक-४, सूत्र-२० में सात पदवी के नाम दिये गये है, उनका स्वरूप इस प्रकार है-

(१) आचार्य :- जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य; इन पाँच आचारों का स्वय पालन करे और आज्ञानुवर्ती शिष्यों से पालन करावे, जो साधु स घ का स्वामी हो और स घ के अनुग्रह-निग्रह, सारण-वारण और धारण में कुशल हो, लोक-स्थिति का वेत्ता हो, आचार सम्पदा आदि आठ सम्पदाओं से युक्त हो वह आचार्य पद के योग्य होता है।

(२) उपाध्याय :- जो स्वय द्वादशा ग श्रुत का विशेषज्ञ हो, अध्ययनार्थ आने वाले शिष्यों को आगमों का अभ्यास कराने वाला हो और व्यवहार सूत्र, उद्दे॰ ३, सूत्र-३ में कहे गये गुणों का एव वहाँ निर्दिष्ट सूत्रों का धारक हो वह उपाध्याय पद के योग्य होता है।

(३) प्रर्वतक :- यह पद अल्प स ख्यक साधु समुदाय में आचार्य के स्थान में दिया जाता है। विशाल समूह में प्रर्वतक पदवीधर आचार्य के सहायक होते हैं। जो साधुओं की योग्यता या ढचि देखकर उनको

आचार्य निर्दिष्ट कार्यों में तथा तप-स यम योग में, वैयावृत्य, सेवा, शुश्रुषा, अध्ययन-अध्यापन आदि में नियुक्त करते हैं। इस पदवी वाले की योग्यता आचार्य तुल्य होना ही अत्युत्तम है। कम से कम उपाध्याय के तुल्य तो होना ही चाहिए।

(४) स्थविर :- जो साधुओं के स यम में शैथिल्य देखकर या उन्हें स यम से विचलित देखकर इस लोक-परलोक सम्बन्धी अपायों (अनिष्टों या दोषों) का उपदेश करे और उन्हें अपने कर्तव्यों में स्थिर करे।

(५) गणी :- जो कुछ साधुओं के गण का स्वामी हो और साध्वियों की देख-रेख एव व्यवस्था करने वाला हो। अथवा मुख्य आचार्य की निश्रा में जो अनेक आचार्य होते हैं उन्हें गणी कहा जाता है।

(६) गणधर :- जो कुछ साधुओं का प्रमुख बनकर अर्थात् सि घाड़ा प्रमुख बनकर विचरण करता हो।

(७) गणावच्छेक :- जो साधुजनों के भक्त-पान, स्थान, विचरण, औषध-उपचार, प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था करने वाला हो।

जिस समुदाय में एक दो सि घाड़े ही विचरते हैं या ५-७ स त ही है उस साधु समुदाय में स्थविर या प्रवर्तक का होना आवश्यक है आचार्य उपाध्याय होना वहाँ आवश्यक नहीं है। जिस समुदाय में तीन या अधिक सि घाड़े विचरण करते हैं अथवा १० से अधिक स तों का समूह है तो उस समुदाय में कम से कम आचार्य उपाध्याय दो पदों की निर्युक्ति करना आवश्यक हैं। सौ से अधिक या सैकड़ो साधुओं का समुदाय हो उसमें आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर एव गणावच्छेदक ऐसे पाँचों पदवीधर होना आवश्यक होता है। ***-व्यवहार भाष्य ।***

शेष दो पदवियाँ गणी और गणधर तो स्वाभाविक ही छोटे बड़े समुदायों में होती रहती है क्यों कि कुछ शिष्य सम्पदा हो जाने से एव योग्य श्रुत अध्ययन हो जाने से कोई भी भिक्षु गणी बन सकता है और सि घाड़े की प्रमुखता करने वाले अनेक गणधर-गणधारक हो सकते है। भाष्य में कहा गया है कि उक्त पाँच प्रमुख पदवियों से रहित विशाल गच्छ में नहीं रहना चाहिए क्यों कि वहाँ आत्म असमाधि एव अव्यवस्था होने की पूर्ण सम्भावना रहती है।

इसी प्रकार अल्पस ख्यक साध्वी समुदाय में प्रवर्तिनी या स्थविरा

से चलता है। दस से अधिक स ख्या हो तो प्रवर्तिनी होना आवश्यक है। एव सौ से अधिक या सैकड़ों की स ख्या हो तो गणावछेदिका का होना आवश्यक है। चालीस वर्ष तक की साध्वियों के लिए उपाध्याय का नेतृत्व आवश्यक है एव सित्तर वर्ष तक की साध्वियों के लिए आचार्य का नेतृत्त्व आवश्यक होता है। व्यव॰ उद्दे॰ ७।

साध्वियों में भी सि घाड़ा प्रमुखा और प्रवर्तिनियाँ अनेक हो सकती है। प्रवर्तिनी की योग्यता आचार्य, उपाध्याय के तुल्य समझनी चाहिए। छोटे समुदाय में उसकी योग्यता प्रवर्तक तुल्य समझना। समुदाय को व्यवस्थित चलाने के लिए ही इन पदवियों की आवश्यकता होती है, ऐसा समझना चाहिए।

पन्यास, सूरी, मन्त्री, महाम त्री, सूरीश्वर, युवाचार्य, उपाचार्य, उपप्रवर्तक, गादीपति, गच्छाधिपति आदि पद आगम में नहीं कहे गए हैं और इन पदों की स घ व्यवस्था के लिए कोई आवश्यकता एव उपयोगिता भी नहीं है एव इन पदों के बिना ही सम्पूर्ण स घ व्यवस्था की जा सकती है जो आगम एव उनकी व्याख्याओं के अध्ययन करने से समझ में आ सकती है। आचार्य, प्रवर्तक आदि को जब पद भार से निवृत्ति लेना हो तब उन्हें पद का त्याग करके अन्य योग्य को आचार्य, प्रवर्तक पद पर नियुक्त कर देना चाहिए। जीवन के अन्तिम समय तक किसी को कोई पद रखना जरूरी नहीं होता है। पद तो कार्य भार सम्भालने के लिए होता है और जब भार सम्भालने की क्षमता वृद्धावस्था के कारण न हो अथवा निवृत्त होकर साधना करना हो तो पद का त्याग किया जा सकता है ऐसा करने में कोई अपराध नहीं होता है न ही कोई अपमान । अतः उपाचार्य, उपप्रवर्तक, युवाचार्य गादीपति आदि पद **आगम निरपेक्ष पद** नहीं देने चाहिये । जो योग्य है एव स घ व्यवस्था में उसे कार्य भार स भलाना आवश्यक है तो उसे आगमोक्त आचार्य, उपाध्याय एव प्रवर्तक पद ही देना चाहिए । पद निवृत्त श्रमण स्थविर कहे जाते हैं।

विशाल समुदाय हो तो अनेक आचार्य, अनेक उपाध्याय और अनेक प्रवर्तक नियुक्त किए जा सकते हैं। किन्तु आगम से अतिरिक्त विभिन्न नए-नए पदों की परम्पराएँ चलाना अति प्रवृत्ति है। जो आगम

अध्ययन की कमी एव आगम निष्ठा की कमी से उत्पन्न होने वाली भूल है। अतः जिनशासन के हितैषी अधिकारियों को आगम के ग भीर अध्ययनपूर्वक स घ व्यवस्था में अग्रसर होना चाहिए एव प्रत्येक प्रवृत्ति निर्ग्रन्थ प्रवचन को आगे रखकर अर्थात् शास्त्र को प्रमुख रखकर ही करनी चाहिए।

शास्त्र का गम्भीर अध्ययन अनुभव किए बिना अपनी-अपनी बुद्धि से या बहुमत से अन्यान्य प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ नहीं करनी चाहिए।

निबंध– २५

सि घाडा प्रमुख की योग्यता एव विवेक

१. व्यवहार सूत्र उद्देशक–३, सूत्र–१,२ में कहा गया है कि यदि कोई भिक्षु गण प्रमुख के रूप में विचरना चाहे तो उसका **पलिछन्न** होना आवश्यक है अर्थात् जो शिष्य सम्पदा और श्रुत सम्पदा सम्पन्न है वही प्रमुख रूप में विचरण कर सकता है। यहाँ भाष्यकार ने शिष्य सम्पदा एव श्रुत सम्पदा के चार भ ग कहे हैं उनमें से प्रथम भ ग के अनुसार जो दोनों प्रकार की सम्पदा से युक्त हो उसे ही प्रमुख रूप में विचरण करना चाहिए ।

यदि पृथक्-पृथक् शिष्य करने की परम्परा न हो तो श्रुत सम्पन्न एव बुद्धिमान भिक्षु गण के कुछ साधुओं को लेकर उनकी प्रमुखता करता हुआ विचरण कर सकता है।

जिस भिक्षु के एक या अनेक शिष्य हों वह शिष्य सम्पदा युक्त कहा जाता है। जो आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र तथा आचारा ग सूत्र और निशीथ सूत्र के मूल एव अर्थ को धारण करने वाला हो अर्थात् जिसने इतना मूल श्रुत उपाध्याय की निश्रा से क ठस्थ धारण किया हो एव आचार्य या उपाध्याय से इन सूत्रों के अर्थ की वाचना लेकर उसे भी क ठस्थ धारण किया हो एव वर्तमान में वह श्रुत उसे उपस्थित हो तो वह श्रुत सम्पन्न कहा जाता है। जिसके एक भी शिष्य नहीं है एव उपर्युक्त श्रुत का अध्ययन भी जिसने नहीं किया है वह गण धारण के अयोग्य हैं।

यदि किसी भिक्षु के शिष्य सम्पदा है किन्तु वह बुद्धिमान एव श्रुत सम्पन्न नहीं है अथवा धारण किए हुए श्रुत को भूल गया है, वह भी गण धारण के अयोग्य है। किन्तु यदि किसी को वृद्धावस्था (६० वर्ष से अधिक)

होने कारण श्रुत विस्मृत हो गया हो तो वह श्रुत सम्पन्न ही कहा जाता है एव गणधारण कर सकता है।

भाष्यकार ने शिष्य सम्पदा वाले को **द्रव्य पलिच्छन्न** और श्रुत सम्पन्न को **भाव पलिच्छन्न** कहा है। उस चौभ गी युक्त विवेचन से भाव पलिच्छन्न को ही गणधारण करके विचरने योग्य कहा है। जिसका सारा श यह है कि जो आवश्यक श्रुत ज्ञान से सम्पन्न हो एव बुद्धि सम्पन्न हो वह गण धारण करके विचरण कर सकता है।

भाष्यकार ने इसी आगम विधान के तात्पर्यार्थ को बताते हुए यह भी स्पष्ट किया है कि- **(१)** विचरण करते हुए वह स्वय के और अन्य भिक्षुओं के ज्ञान, दर्शन, चारित्र की शुद्ध आराधना करने करवाने में समर्थ हो। **(२)** जनसधारण को अपने ज्ञान तथा वाणी एव व्यवहार से धर्म के सन्मुख कर सकता हो। **(३)** अन्य मत से भावित कोई भी व्यक्ति प्रश्न-चर्चा करने के लिए आ जाय तो उसे यथायोग्य उत्तर देने में समर्थ हो, ऐसा भिक्षु गण प्रमुख के रूप में अर्थात् स घाटक प्रमुख होकर विचरण कर सकता है।

धर्म प्रभावना को लक्ष्य में रखकर विचरण करने वाले प्रमुख भिक्षु में ये भाष्योक्त गुण होना आवश्यक है किन्तु अभिग्रह प्रतिमाएँ एव मौन साधना आदि केवल आत्मकल्याण के लक्ष्य से विचरण करने वाले को सूत्रोक्त श्रुतस पन्न रूप पलिच्छन्न होना ही पर्याप्त है। भाष्योक्त गुण न हों तो भी वह प्रमुख होकर विचरण करता हुआ आत्म स यम साधना कर सकता है। उपर कहे **प्रथम सूत्र** का यह आशय है ।

द्वितीय सूत्र के अनुसार कोई भी श्रुत स पन्न योग्य भिक्षु स्वेच्छा से गण प्रमुख के रूप में विचरण करने के लिए नहीं जा सकता है किन्तु गच्छ के स्थविर भगव त की अनुमति लेकर के ही गण धारण कर सकता है अर्थात् स्थविर भगव त से कहे कि- "हे भगवन् ! मैं कुछ भिक्षुओं को लेकर विचरण करना चाहता हूँ।" तब स्थविर भगव त उसकी योग्यता जानकर एव उचित अवसर देखकर स्वीकृति दे तो गणधारण कर सकता है। यदि वे स्थविर किसी कारण से स्वीकृति न दे तो गण धारण नहीं करना चाहिए एव योग्य अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

सूत्र में स्थविर भगव त से आज्ञा प्राप्त करने का विधान किया गया

है उसके स दर्भ में यह समझना चाहिए कि यहाँ स्थविर शब्द से आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक आदि सभी आज्ञा देने वाले अधिकारी सूचित किये गये हैं। क्यों कि स्थविर शब्द अत्य न्त विशाल है। इसमें सभी पदवीधर और अधिकारीगण भिक्षुओं का समावेश हो जाता है। आगमों में गणधर गौतम तथा सुधर्मास्वामी के लिए एव तीर्थंकरों के लिए भी 'थेरे = स्थविर' शब्द का प्रयोग है। अतः इस विधान का आशय यह है कि गण धारण के लिए गच्छ के किसी भी अधिकारी भिक्षु की आज्ञा लेना आवश्यक है एव स्वय का श्रुतस पदा आदि से स पन्न होना भी आवश्यक है।

यदि कोई भिक्षु उत्कट इच्छा के कारण आज्ञा लिये बिना या स्वीकृति नहीं मिलने पर भी अपने शिष्यों को या अन्य अपनी निश्रा में अध्ययन आदि के लिए रहे हुए साधुओं को लेकर विचरण करता है तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है। उसके साथ शिष्य रूप रहने वाले या अध्ययन आदि किसी भी कारण से उसकी निश्रा में रहने वाले साधु उसकी आज्ञा का पालन करते हुए उसके साथ रहते हैं, वे प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं। यह भी द्वितीय सूत्र में स्पष्ट किया गया है।

आज्ञा के बिना गणधारण करने वाले भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त का विधान करते हुए सूत्र में कहा गया है कि ***'से स तरा छेए वा परिहारे वा'*** इसका अर्थ करते हुए व्याख्याकार ने यह स्पष्ट किया है कि वह भिक्षु अपने उस अपराध के कारण यथायोग्य छेद(पाँच दिन आदि) प्रायश्चित्त को अथवा मासिक आदि परिहार तप या सामान्य तप रूप प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है। अर्थात् आलोचना करने पर या आलोचना न करने पर भी अनुशासन व्यवस्था हेतु उसे यह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त दिया जाता है।

सूत्र में यह विधान भिक्षु के लिए किया गया है। इसी प्रकार साध्वी के लिए भी उपरोक्त स पूर्ण विधान-विवेचन समझ लेना चाहिए । उसे विचरण करने के लिए स्थविरा या प्रवर्तिनी की आज्ञा लेनी चाहिए ।

निबंध- २६

आचार्य की योग्यता का स क्षिप्त परिचय

(१) कम से कम पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय हो। **(२)** बहुश्रुत (छेदसूत्रों में पारंगत) और बहुआगमज्ञ(अनेक शास्त्रों का अभ्यासी) हो। **(३)** कम

से कम नौ शास्त्र अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण किए हो– १. आवश्यक सूत्र, २. दशवैकालिक सूत्र, ३. उत्तराध्ययन सूत्र, ४. आचारा ग सूत्र, ५. निशीथ सूत्र, ६. सूयगड़ा ग सूत्र, ७. दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र, ८. बृहत्कल्प सूत्र, ९. व्यवहार सूत्र । **(४)** ब्रह्मचर्य आदि महाव्रत जिसने खण्ड़ित न किए हो ।**(५)** सबल दोष आदि किन्हीं दोषों से स यम दूषित न किया हो।**(६)** स यम के नियम–उपनियमों के पालन करने एव करवाने में कुशल हो ।**(७)** जिन प्रवचन का कुशल ज्ञाता हो ।**(८)** श्रद्धा एव प्ररूपणा अत्यन्त निर्मल हो तथा आगम तत्त्वों को समझाने में चतुर एव दक्ष हो **(९)** प्रभावशाली एव उपकार बुद्धि वाला हो ।***–व्यव.उ. ३.सू.५॥***

(१०) दशाश्रुत स्कन्ध दशा ४ के अनुसार आचार्य आठ सम्पदा से युक्त होना चाहिए। १. आचार सम्पन्न, २. श्रुत सम्पन्न, ३. शरीर स पन्न, ४. वचन सम्पन्न, ५. वाचना सम्पन्न, ६. बुद्धि सम्पन्न, ७. स्फुरणा बुद्धि(प्रयोग मति) सम्पन्न, ८. स ग्रह परिज्ञा सम्पन्न । इन आठों का सारा श उपरोक्त व्यवहार सूत्रोक्त गुणों में समाविष्ट हो जाता हैं। **(११)** पर परा में ३६ गुण कहे जाते हैं उनका भी व्यवहार सूत्र निर्दिष्ट गुणों में समावेश हो जाता हैं। यथा– (१-५) पाँच आचार पाले, (६-१०) पाँच महाव्रत पाले (११-१५) पाँच इन्द्रिय जीते, (१६-१९) चार कषाय टाले (२०-२८) नौ वाड़ सहित ब्रह्मचर्य पाले, (२९-३६) पाँच समिति तीन गुप्ति शुद्ध आराधे । पक्ष भाव एव आग्रह भाव का परित्याग करके उपरोक्त गुण हो उसे ही आचार्य बनना या बनाना चाहिए।

आचार्य बणाओ कैसा ?
सूत्र में बताया वैसा ।

निबंध– २७

उपाध्याय की योग्यता एव कर्तव्य(स क्षिप्त)

जिनके समीप अध्ययन किया जाता है उन्हें उपाध्याय कहा जाता है। उपाध्याय पद आगम में आचार्य पद के बराबर ही सम्माननीय कहा गया है। व्यवहार सूत्र, उद्दे॰–८ में पाँच अतिशय आचार्य उपाध्याय दोनों के समान कहे गए हैं। अन्य आगम वर्णनों में भी दोनों को प्रायः

समान ही बहुमान दिया गया हैं । व्यवहार सूत्र में उपाध्याय की सारी योग्यता आचार्य के समान ही कही गई हैं केवल दीक्षा पर्याय और श्रुत में अन्तर कहा गया है यथा–

(१) तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय हो जाने पर उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जा सकता है। **(२)** कण्ठस्थ श्रुत में अल्पतम पाँच आगम अर्थ सहित क ठस्थ हो (१.आवश्यक सूत्र २.दशवैकालिक सूत्र ३. उत्तराध्ययन सूत्र ४. आचारा ग सूत्र ५. निशीथ सूत्र)। ऐसे बहुश्रुत, आचार सम्पन्न, उपाध्याय दिन–रात अनेकों या सैकड़ों(गच्छ या स घ के) साधुओं को अध्ययन कराने में लीन रहते हैं। इसलिए वे उपाध्याय कहे जाते हैं।

गण या स घ के योग्य सन्तों को उपाध्याय के पास रखकर अध्ययन कराना चाहिए तभी उपाध्याय पद की सार्थकता है एव स घ को उपाध्याय से लाभ होता है ।

वर्तमान में केवल सम्मान देने के लिए ही पद निर्युक्ति कर दी जाती है। कर्तव्य एव जिम्मेदारी की उपेक्षा होती है वह सर्वथा अनुचित है एव पद व्यवस्था का दुरूपयोग है।

ऐसी स्थिति में आगमिक पद योग्यता की भी उपेक्षा करके श्रुत आदि से अयोग्यों को पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। इस अव्यवस्था पर स घ के हितैषी महानुभावों को लक्ष्य देना चाहिए।

उपाध्याय पद से पावो तुम सन्मान,
सूत्र पढाने का सदा करो कृछ काम ॥

निबंध– २८

आचार्य आदि पदों की विस्तृत योग्यता

जिस गच्छ में अनेक साधु-साध्वियाँ हों, जिसके अनेक स घाटक (स घाड़े) अलग-अलग विचरते हों अथवा जिस गच्छ में **नवदीक्षित, बाल या तढण** साधु-साध्विया हों उसमें अनेक पदवीधरों का होना अत्यावश्यक है एव कम से कम आचार्य–उपाध्याय इन दो पदवीधरों का होना तो निता त आवश्यक है।

कि तु जिस गच्छ में २–४ साधु या २–४ साध्वियाँ ही हों,

जिनके एक या दो स घाटक ही अलग-अलग विचरते हों एव उनमें **कोई भी नवदीक्षित बाल या तढण** वय वाला न हों तो आचार्य उपाध्याय पदवीधर के बिना ही केवल वय या पर्यायस्थविर अथवा प्रवर्तक से उनकी व्यवस्था हो सकती है।

व्यवहारसूत्र उद्देशक-३ में तीसरे-चौथे प्रथम सूत्रद्विक में उपाध्याय पद के, द्वितीय सूत्रद्विक में आचार्य उपाध्याय पद के और तृतीय सूत्रद्विक में अन्य पदों के(गणावछेद आदि के) योग्यायोग्य का कथन दीक्षापर्याय, श्रुत अध्ययन एव अनेक गुणों के द्वारा किया गया है । जिसमें दीक्षा पर्याय और श्रुतअध्ययन की **जघन्य मर्यादा** तो, उपाध्याय से आचार्य की और उनसे गणवच्छेदक की अधिक अधिकतर कही है । इनके सिवाय **मध्यम** या **उत्कृष्ट** कोई भी दीक्षापर्याय एव श्रुत-अध्ययन वाले को भी ये पद दिये जा सकते हैं। **आचारकुशल** आदि अन्य गुणों का सभी पदवीधरों के लिए समान रूप से निढपण किया गया है अतः प्रत्येक पदयोग्य भिक्षु में वे गुण होना आवश्यक है ।

दीक्षापर्याय :– भाष्यकार ने बताया है कि दीक्षापर्याय के अनुसार ही प्रायः अनुभव, क्षमता, योग्यता का विकास होता है जिससे भिक्षु उन-उन पदों के उत्तरदायित्व को निभाने में सक्षम होता है । उपाध्याय का मुख्य उत्तरदायित्व अध्ययन कराने का है, जिसमें शिष्यों के अध्ययन सम्बन्धी सभी प्रकार की व्यवस्था की देख-रेख उन्हें रखनी पड़ती है । अतः इस पद के लिए जघन्य तीन वर्ष की दीक्षापर्याय होना आवश्यक कहा है ।

आचार्य पर गच्छ की सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का उत्तरदायित्व रहता है। वे अर्थ-परमार्थ की वाचना भी देते हैं। अतः अधिक अनुभव क्षमता की दृष्टि से उनके लिए न्यूनतम पाँच वर्ष की दीक्षापर्याय होना आवश्यक कहा है ।

गणावच्छेदक गण सम्बन्धी अनेक कर्तव्यों को पूर्ण करके उनकी चिंता से आचार्य को मुक्त रखता है अर्थात् गच्छ के साधुओं की सेवा, विचरण एव प्रायश्चित्त आदि व्यवस्थाओं का उत्तरदायित्व गणावच्छेदक का होता है। यद्यपि अनुशासन का पूर्ण उत्तरदायित्व आचार्य का होता

है तथापि व्यवस्था तथा कार्य स चालन का उत्तरदायित्व गणावच्छेदक का अधिक होने से इनकी दीक्षा पर्याय कम से कम आठ वर्ष की होना आवश्यक कहा है ।

अन्य गुण :– आचार कुशलता आदि दस गुणों का कथन इन सूत्रों में सभी पदवी वालों के लिये किया गया है उन्हें समझना जरूरी है। उनकी व्याख्या भाष्य में इस प्रकार की गई है—

(१) आचारकुशल :– ज्ञानाचार में एव विनयाचार में जो कुशल होता है वह आचारकुशल कहा जाता है। यथा– गुढ आदि के आने पर खड़ा होता है उन्हें आसन चौकी आदि प्रदान करता है, प्रातः काल उन्हें व दन करके आदेश मा गता है, द्रव्य से अथवा भाव से उनके निकट रहता है, शिष्यों को एव प्रतीच्छकों(अन्य गच्छ से अध्ययन के लिए आये हुओं) को गुढ के प्रति श्रद्धान्वित करने वाला, कायिकी आदि चार प्रकार की विनयप्रतिपत्ति को यथाविधि करने वाला, आवश्यक वस्त्रादि प्राप्त करने वाला, गुढ आदि की यथायोग्य पूजा, भक्ति, आदर-सत्कार करके उन्हें प्रसन्न रखने वाला, पढष वचन नहीं बोलने वाला, अमायावी-सरल स्वभावी, हाथ-पाँव-मुख आदि की विकृत चेष्टा से रहित स्थित स्वभाव वाला, दूसरों के साथ मायावी आचरण या धोखा न करने वाला, यथासमय प्रतिलेखन प्रतिक्रमण एव स्वाध्याय करने वाला, यथोचित तप करने वाला, ज्ञानादि की वृद्धि एव शुद्धि करने वाला, समाधिवान और सदैव गुढ का बहुमान करने वाला, ऐसा गुणनिधि भिक्षु 'आचार कुशल' कहलाता है ।

(२) स यमकुशल :– १. पाँच स्थावर तीन विकलेन्द्रिय एव प चेन्द्रिय जीवों की सम्यक् प्रकार से यतना करने वाला, आवश्यक होने पर ही निर्जीव पदार्थो का विवेकपूर्वक उपयोग करने वाला, गमनागमन आदि की प्रत्येक प्रवृत्ति अच्छी तरह देखकर करने वाला, अस यम प्रवृत्ति करने वालों के प्रति उपेक्षा या माध्यस्थ भाव रखने वाला, यथासमय यथाविधि प्रमार्जन करने वाला, परिष्ठापना समिति के नियमों का पूर्ण पालन करने वाला, मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्ति को त्यागने वाला, इस तरह सत्तरह प्रकार के स यम का पालन करने में निपुण(दक्ष) । २. अथवा कोई वस्तु रखने या उठाने में तथा एषणा, शय्या, आसन,

उपधि, आहार आदि में यथाशक्ति प्रशस्त योग रखने वाला, अप्रशस्त योगों का परित्याग करने वाला।

३. इन्द्रियों एव कषायों का निग्रह करने वाला अर्थात् शुभाशुभ पदार्थों में रागद्वेष नहीं करने वाला और कषाय के उदय को विफल कर देने वाला, हिंसा आदि आश्रवों का पूर्ण निरोध करने वाला, अप्रशस्त योग और अप्रशस्त ध्यान अर्थात् आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग कर शुभ योग और धर्म, शुक्ल ध्यान में लीन रहने वाला, आत्म परिणामों को सदा विशुद्ध रखने वाला, इहलोकादि आश सा से रहित, ऐसा गुणनिधि भिक्षु ''स यम कुशल'' है।

(३) प्रवचनकुशल :– जो जिनवचनों का ज्ञाता एव कुशल उपदेष्टा हो वह 'प्रवचनकुशल' है, यथा– सूत्र के अनुसार उसका अर्थ, परमार्थ, अन्वय, व्यतिरेक, युक्त सूत्राशय को, अनेक अतिशय युक्त अर्थों को एव आश्चर्यकारी अर्थों को जानने वाला, मूल एव अर्थ की श्रुत परम्परा को भी जानने वाला, प्रमाण नय निक्षेपों से पदार्थो के स्वरूप को समझने वाला, इस प्रकार श्रुत एव अर्थ के निर्णायक होने से जो श्रुत रूप रत्नों से पूर्ण है तथा जिसने सम्यक् प्रकार से श्रुत को धारण करके उनका पुनरावर्तन किया है, पूर्वापर सम्बन्ध पूर्वक चिंतन किया है, उसके निर्दोष होने का निर्णय किया है और उसके अर्थ को बहुश्रुतों के पास चर्चा–वार्ता आदि से विपुल विशुद्ध धारण किया है, ऐसे गुणों को धारण करने वाला और उक्त अध्ययन से अपना हित करने वाला, अन्य को हितावह उपदेश करने वाला एव प्रवचन का अवर्णवाद बोलने वालों का निग्रह करने में समर्थ; ऐसा गुण सम्पन्न भिक्षु 'प्रवचन कुशल' है।

(४) प्रज्ञप्तिकुशल :– लौकिक शास्त्र, वेद–पुराण एव स्वसिद्धा त का जिसने सम्यग् विनिश्चय कर लिया है, जो धर्म कथा, अर्थकथा आदि का सम्यक्ज्ञाता है तथा जीव–अजीव के स्वरूप एव भेदों का, कर्म ब ध एव मोक्ष के कारणों का, चारों गति में गमनागमन करने का एव उनके कारणों का तथा उनसे उत्पन्न दु:ख-सुख का, इत्यादि का कथन करने में कुशल, पर वादियों के कुदर्शन का सम्यक् समाधान करके उनसे कुदर्शन का त्याग कराने में समर्थ एव स्व सिद्धान्तों को समझाने में कुशल भिक्षु 'प्रज्ञप्ति कुशल' है।

(५) स ग्रहकुशल :– द्रव्य से उपधि शिष्यादि का और भाव से श्रुत एव अर्थ तथा गुणों का आत्मा में स ग्रह करने में जो कुशल(दक्ष) होता है तथा क्षेत्र एव काल के अनुसार विवेक रख कर ग्लान, वृद्ध आदि की अनुकम्पा पूर्वक वैयावृत्य करने की स्मृति रखने वाला, आचार्यादि की ढग्णावस्था के समय वाचना देने वाला, समाचारी भ ग करने वाले या कषाय में प्रवृत्त होने वाले भिक्षुओं को यथायोग्य अनुशासन करके रोकने वाला, आहार, विनय आदि के द्वारा गुढभक्ति करने वाला, गण के अ तर ग कार्यों को करने वाला या गण से बहिर्भाव वालों को अ तर्भावी बनाने वाला, आहार उपधि आदि जिसको जो आवश्यक हो उसकी पूर्ति करने वाला, परस्पर साथ रहने में एव अन्य को रखने में कुशल, सीवन, लेपन आदि कार्य करने कराने में कुशल, इस प्रकार नि:स्वार्थ सहयोग देने के स्वभाव वाला गुणनिधि भिक्षु 'स ग्रह कुशल'है।

(६) उपग्रह–कुशल :– बाल, वृद्ध, रोगी, तपस्वी, असमर्थ भिक्षु आदि को शय्या, आसन, उपधि, आहार, औषध आदि देता है, दिलवाता है तथा इनकी स्वय सेवा करता है अन्य से करवाता है। गुढ आदि के द्वारा दी वस्तु या कही वार्ता साधुओं तक पहुँचाता है तथा अन्य भी उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्यों को कर देता है अथवा जिनके आचार्यादि नहीं है उन्हें आत्मीयता से दिशा निर्देश करता है, वह 'उपग्रह कुशल' है।

(७) अक्षतआचार :– आधाकर्म आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करने वाला एव परिपूर्ण आचार का पालन करने वाला।

(८) अभिन्नाचार :– किसी प्रकार के अतिचारों का सेवन न करके पाँचों आचारों का परिपूर्ण पालन करने वाला।

(९) असबलाचार :– विनय व्यवहार, भाषा, गोचरी आदि में दोष नहीं लगाने वाला अथवा सबल दोषों से रहित आचरण वाला।

(१०) अस क्लिष्ट आचार :– इहलोक–परलोक सम्बन्धी सुखों की कामना न करने वाला अथवा क्रोधादि का त्याग करने वाला स क्लिष्ट परिणाम रहित भिक्षु। 'क्षत आचार' आदि शब्दों का अर्थ इससे विपरीत समझ लेना चाहिए। यथा– (१) आधाकर्मादि का सेवन करने वाला। (२) अतिचारों का सेवन कर पाँच आचार या पाँच महाव्रत में दोष

लगाने वाला । (३) विनय, भाषा आदि का विवेक नहीं रखने वाला, शबल दोषों का सेवन करने वाला । (४) प्रश सा, प्रतिष्ठा, आदर और भौतिक सुखों की चाहना करने वाला अथवा क्रोधादि से स क्लिष्ट परिणाम रखने वाला ।

बहुश्रुत-बहुआगमज्ञ :– अनेक सूत्रों एव उनके अर्थो को जानने वाला बहुश्रुत या बहुआगमज्ञ कहा जाता है। आगमों में इन शब्दों का भिन्न-भिन्न अपेक्षा से प्रयोग है। यथा– **१.** ग भीरता विचक्षणता एव बुद्धिमत्ता आदि गुणों से युक्त। **२.** जिनमत की चर्चा-वार्ता में निपुण या मुख्य सिद्धा तों का ज्ञाता। **३.** अनेक सूत्रों का अभ्यासी ।**४.** छेदसूत्रों में पार गत। **५.** आचार एव प्रायश्चित्त विधानों में कुशल। **६.** जघन्य मध्यम या उत्कृष्ट बहुश्रुत ।

(१) जघन्यबहुश्रुत–आचारा ग एव निशीथ सूत्र को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने वाला। **(२) मध्यमबहुश्रुत**–आचारा ग, सूत्रकृता ग और चार छेदसूत्रों को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने वाला। **(३) उत्कृष्ट बहुश्रुत**–दृष्टिवाद को धारण करने वाला अर्थात् नवपूर्वी से १४ पूर्वी तक। ये सभी बहुश्रुत कहे गये हैं। **(४)** जो अल्पबुद्धि, अत्यधिक भद्र, अल्प अनुभवी एव अल्प आगमअभ्यासी होता है वह **'अबहुश्रुत अबहुआगमज्ञ'** कहा जाता है तथा कम से कम आचारा ग, निशीथ, आवश्यक दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्र को अर्थ सहित अध्ययन करके उन्हें क ठस्थ धारण नहीं करने वाला 'अबहुश्रुत अबहु आगमज्ञ' कहा जाता है ।

निबंध– २९

आचार्य आदि के बिना रहने का निषेध

व्यवहारसूत्र उद्देशक–३, सूत्र–११, १२ में साधु को आचार्य उपाध्याय बिना एवं साध्वी को आचार्य उपाध्याय प्रवर्तनी बिना रहने का निषेध किया है, इन सूत्रों का शब्दार्थ, भावार्थ, तात्पर्यार्थ एवं इस सूत्र में आये नव, ड़हर, तढण शब्दों का स्पष्टार्थ भाष्य में इस प्रकार है—

तिवरिसो होई नवो, आसोलसग तु डहरग बेंति ।
तढणो चत्तालीसो, सत्तरि उण मज्झिमो थेरओ सेसो ॥२२०॥

अर्थ :– तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय पर्यन्त भिक्षु नवदीक्षित कहा जाता है। चार वर्ष से लेकर सौलह वर्ष की उम्र पर्यन्त का साधु ड़हर-बाल कहा जाता है। सोलह वर्ष की उम्र से लेकर चालीस वर्ष पर्यन्त श्रमण तढण कहा जाता है। सत्तर वर्ष में एक कम अर्थात् उनसत्तर(६९) वर्ष पर्यन्त मध्यम (प्रौढ़) कहा जाता है। सत्तर वर्ष से आगे शेष, सभी वय वाले स्थविर कहे जाते है। ***–भाष्य गा. २२० एव उसकी टीका।*** आगम में साठ वर्ष वाले को स्थविर कहा है । ***–व्यवहार उ. १०, ठाण अ. ३। आगम का कथन स्थविर पद की अपेक्षा मुख्य है यहाँ भाष्य कथन वृद्धावस्था (बुढापे) की अपेक्षा है ।***

भाष्यगाथा– २२१ में यह स्पष्ट किया गया है कि नवदीक्षित भिक्षु बाल हो या तढण हो, मध्यम वय वाला हो अथवा स्थविर हो, उसे आचार्य, उपाध्याय की निश्रा के बिना **रहना** या **विचरण** करना **नहीं कल्पता** है। अधिक दीक्षापर्याय वाला भिक्षु यदि **चालीस वर्ष से कम** वय वाला हो तो उसे भी आचार्य, उपाध्याय की निश्रा बिना **रहना नहीं कल्पता है ।** तात्पर्य यह है कि बाल या तढण वय वाले भिक्षु और नवदीक्षित भिक्षु एक हो या अनेक हों, उन्हें आचार्य और उपाध्याय के निश्रा में ही रहना आवश्यक है जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय कालधर्म को प्राप्त हों जाय अथवा जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय न हों तो बाल,तढण,नवदीक्षित भिक्षुओं को आचार्य, उपाध्याय के बिना या आचार्य, उपाध्याय रहित गच्छ में कि चित् भी रहना नहीं कल्पता है। उन्हें प्रथम अपना आचार्य नियुक्त करना चाहिए उसके बाद उपाध्याय निर्धारित करना चाहिए।

सूत्र में प्रश्न किया गया है कि– हे भगवन् !**'आचार्य, उपाध्याय बिना रहना ही नहीं'** ऐसा कहने का क्या आशय है ? इसका सामाधन मूलपाठ में यह किया गया है कि– ये उक्त वय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ सदा दो से स ग्रहीत होते हैं अर्थात् इनके लिए सदा दो का नेतृत्व होना अत्यन्त आवश्यक है– १. आचार्य का २. उपाध्याय का। तात्पर्य यह है

कि आचार्य के नेतृत्व से इनकी स यम-समाधि रहती है और उपाध्याय के नेतृत्व से इनका आगमानुसार व्यवस्थित अध्ययन होता है ।

दूसरे सूत्र में नव ड़हर एव तढण **साध्वी** के लिए भी यही विधान किया गया है । उन्हें भी आचार्य, उपाध्याय और **प्रवर्तिनी** इन **तीन** की निश्रा के बिना रहना नहीं कल्पता है । इस सूत्र में भी प्रश्न करके उत्तर में यही कहा गया है कि ये उक्त वय वाली साध्वियाँ सदा तीन की निश्रा से ही सुरक्षित रहती है ।

सूत्र में **निग्ग थस्स नव-ड़हर-तढणगस्स** और **णिग्ग थीए णव-ड़हर-तढणीए** इस प्रकार एक वचन का प्रयोग है, यहाँ बहुवचन का या गण का कथन नहीं है जिससे यह विधान प्रत्येक 'नवड़हर तढण' भिक्षु के लिए समझना चाहिए अतः जिस गच्छ में आचार्य और उपाध्याय दो पदवीधर नहीं हैं वहाँ उक्त नव-ड़हर-तढण साधुओं को रहना नहीं कल्पता है और इन दो के अतिरिक्त प्रवर्तिनी न हो तो वहाँ उक्त नव-ड़हर-तढण साध्वियों को रहना नहीं कल्पता है । तात्पर्य यह है कि उक्त वय वाले साधुओं से युक्त गच्छ में आचार्य, उपाध्याय दो पदवीधर होना आवश्यक है । यदि ऐसे गच्छ में केवल एक पदवीधर स्थापित करे या एक भी पदवीधर नियुक्त न करे केवल रत्नाधिक की निश्रा से रहे तो इस प्रकार से रहना आगम विपरीत है । क्यों कि इन सूत्रों से यह स्पष्ट है कि अल्पस ख्यक गच्छ में प्रवर्तक एव विशाल गच्छ में आचार्य और उपाध्याय का होना आवश्यक है यही जिनाज्ञा है ।

यदि किसी गच्छ में २–४ साधु ही हों और उनमें कोई सूत्रोक्त **नव-ड़हर-तढण** न हो अर्थात् **सभी प्रौढ़** एव स्थविर हों तो वे बिना आचार्य, उपाध्याय के विचरण कर सकते हैं किन्तु यदि उनमें नव-ड़हर-तढण हो तो उन्हें किसी भी गच्छ के आचार्य, उपाध्याय की निश्रा लेकर अथवा अपना प्रवर्तक आदि स्थापित करके ही रहना चाहिए अन्यथा उनका विहार आगम विढद्ध विहार है । इसी प्रकार साध्वियाँ भी ५–१० हों, जिनके कोई आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी न हो या उन्होंने किसी परिस्थिति से गच्छ का त्याग कर दिया हो और उनमें नव ड़हर तढण साध्वियाँ हों तो उन्हें भी किसी आचार्य और उपाध्याय

की निश्रा अथवा प्रवर्तक आदि की निश्रा स्वीकार करना आवश्यक है एव अपनी प्रवर्तिनी नियुक्त करना भी आवश्यक है । अन्यथा उनका विहार भी आगम विढद्ध विहार है ।

इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्थाना ग अ. ३ में कहे गये भिक्षु के दूसरे मनोरथ के अनुसार अथवा अन्य किसी प्रतिज्ञा को धारण करने वाला भिक्षु और दशवै. चू. २, गाथा. १०; उत्तरा अ. ३२, गा. ५; आचा. श्रु. १, अ. ६, उ. २; सूय. श्रु. १, अ.१०, गा. ११ में कहे गये सपरिस्थितिक प्रशस्त विहार के अनुसार अकेला विचरण करने वाला भिक्षु भी यदि **नव ड़हर या तढण** है तो उसका वह विहार आगम विढद्ध है । अतः उपर्युक्त आगमसम्मत एकल विहार भी प्रौढ़ एव स्थविर भिक्षु ही कर सकते हैं जो नव दीक्षित न हों ।

तात्पर्य यह है कि तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय और चालीस वर्ष की उम्र के पहले किसी भी प्रकार का एकल विहार या गच्छ- त्याग करना उचित नहीं है और वह आगम विपरीत है । बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला पर्याय स्थविर होने से २९ वर्ष की वय में ही आचार्य की आज्ञा लेकर उनकी निश्रा में रहता हुआ एकल विहार साधनाएँ कर सकता है । किन्तु सपरिस्थितिक एकल विहार या गच्छ त्याग ४० वर्ष के पूर्व नहीं कर सकता । ऐसे स्पष्ट विधान वाले सूत्र एव अर्थ के उपलब्ध होते हुए भी समाज में निम्न प्रवृतियाँ या परम्पराएँ चलती हैं वे उचित नहीं कही जा सकती, यथा– (१) केवल आचार्य पद से गच्छ चलाना और उपाध्याय पद नियुक्त न करना । (२) कोई भी पद नियुक्त न करने के आग्रह से विशाल गच्छ को अव्यवस्थित चलाते रहना । (३) उक्त ४० वर्ष की वय के पूर्व ही गच्छ त्याग करना ।

ऐसा करने में स्पष्ट रूप से उक्त आगम विधान की स्वमति से उपेक्षा करना है । इस उपेक्षा से होने वाली हानियाँ भाष्य में इस प्रकार कही है– **१.** गच्छगत साधुओं के विनय, अध्ययन, आचार एव स यम समाधि की अव्यवस्था आदि अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है । **२.** साधुओं में स्वच्छ दता एव आचार विचार की भिन्नता हो जाने से क्रमशः गच्छ का विकास न होकर अधःपतन होता है । **३.** साधुओं में प्रेम

स यम समाधि नष्ट होती है और क्लेशों की वृद्धि होती है।**४.** अ ततः गच्छ भी छिन्न-भिन्न होता रहता है। अतः प्रत्येक गच्छ में आचार्य-उपाध्याय दोनों पदों पर किसी को नियुक्त करना आवश्यक है ।

यदि कोई आचार्य, उपाध्याय पदों को लेना या गच्छ में ये पद नियुक्त करना अभिमान सूचक एव क्लेश वृद्धि कराने वाला मानकर सदा के लिए पदरहित गच्छ रखने का आग्रह रखते हैं और ऐसा करते हुए अपने को निरभिमानी होना व्यक्त करते हैं, तो ऐसा मानना एव करना उनका सर्वथा अनुचित है और जिनाज्ञा की अवहेलना एव आशातना करना भी है। क्यों कि जिनाज्ञा तो आचार्य, उपाध्याय नियुक्त करने की है तथा नमस्कारम त्र में भी ये दो स्वत त्र पद कहे गये हैं। अतः उपरोक्त आग्रह में सूत्र विधानों से भी अपनी समझ को सर्वोपरि मानने का अह सिद्ध होता है। यदि आचार्य, उपाध्याय पद के अभाव में निरभिमान और क्लेशरहित होना सभी विशाल गच्छ वाले सोच लें तो नमस्कार म त्र के दो पदों का होना ही निरर्थक सिद्ध होगा और जिससे पद नियुक्ति सम्बन्धी इन सारे आगम विधानों का भी कोई महत्त्व नहीं रहेगा । इसलिये अपने विचारों का या पर परा का आग्रह न रखते हुए सरलतापूर्वक आगम विधानों के अनुसार ही प्रवृत्ति करना चाहिए ।

सारा श :– **(१)** प्रत्येक **नव-डहर-तढण** साधु को दो और साध्वी को तीन पदवीधर युक्त गच्छ में ही रहना चाहिए। **(२)** इन पदवीधरों से रहित गच्छ में नहीं रहना चाहिए।**(३)** सूत्रोक्त वय के पूर्व एकल विहार या गच्छ त्याग कर स्वत त्र विचरण भी नहीं करना चाहिए। **(४)** सूत्रोक्त वय के पूर्व कोई परिस्थिति विशेष हो तो अन्य आचार्य एव उपाध्याय से युक्त गच्छ की निश्रा लेकर विचरण करना चाहिए। **(५)** गच्छ प्रमुखों को चाहिए कि वे अपने गच्छ को २ या ३ पद से कभी भी रिक्त न रखें।

नोट–इस निबंध के कारण रूप अनेक प्रश्न होते है । यथा– **आचार्य उपाध्याय के बिना कोई साधु या गच्छ नहीं रह सकते है, ऐसा यहाँ सूत्र में स्पष्ट है तो कितने ही गच्छ वाले ऐसा क्यों चलाते है । अपवाद मार्ग से चलावे तो क्या अपवाद मार्ग हमेशा के लिये हो**

सकता है ? गच्छ में योग्य साधु के होते हुए भी जो आचार्य उपाध्याय न बनावे तो वह उनका आगम विपरीत आचरण और प्ररूपण है क्या? क्या वे भगवान तीर्थंकर से भी अपने को ज्यादा समझने वाले होते हैं? इन सब प्रश्नों का समाधान उपर निबंध में दिया जा चुका है ।

निबंध– ३०

आचार्य आदि पद देने–हटाने का विवेक

व्यवहारसूत्र के तीसरे उद्देशक में आचार्य, उपाध्याय पद योग्य भिक्षु के गुणों का विस्तृत कथन किया गया है। उद्देशक–४ में ढग्ण आचार्य, उपाध्याय अपना अ तिम समय समीप जान कर आचार्य, उपाध्याय पद के लिए किसी साधु का नाम निर्देश करे तो उस समय स्थविरों का क्या कर्तव्य है इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

ढग्ण आचार्य ने आचार्य बनाने के लिए जिसके नाम का निर्देश किया है वह योग्य भी हो सकता है और अयोग्य भी हो सकता है क्यों कि उनका कथन ढग्ण होने के कारण या मोह भाव के कारण स कुचित दृष्टिकोण वाला भी हो सकता है।

अतः उनके काल धर्म प्राप्त हो जाने पर पद किसको देना इसके निर्णय की जिम्मेदारी गच्छ के शेष साधुओं की कही गई है। जिसका भाव यह है कि यदि आचार्य निर्दिष्ट भिक्षु तीसरे उद्देशक में कही गई सभी योग्यताओं से युक्त है तो उसे ही उस पद पर नियुक्त करना चाहिये, दूसरा कोई विकल्प आवश्यक नहीं है।

यदि वह श्रमण शास्त्रोक्त योग्यता से सम्पन्न नहीं है और अन्य योग्य है तो आचार्य निर्दिष्ट भिक्षु को पद देना अनिवार्य न समझ कर उस अन्य योग्य भिक्षु को ही पद पर नियुक्त करना चाहिए।यदि अन्य कोई भी योग्य नहीं है तो आचार्य निर्दिष्ट भिक्षु योग्य हो अथवा योग्य न हो उसे ही आचार्य पद पर नियुक्त करना चाहिए।यदि अन्य अनेक भिक्षु भी पद के योग्य हैं और वे आचार्य निर्दिष्ट भिक्षु से रत्नाधिक भी हैं किन्तु यदि आचार्य निर्दिष्ट भिक्षु योग्य है तो उसे ही आचार्य बनाना चाहिए ।

आचार्य निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट किसी भी योग्य भिक्षु को अथवा कभी परिस्थितिवश अल्प योग्यता वाले भिक्षु को पद पर नियुक्त करने के बाद यदि यह अनुभव हो कि गच्छ की व्यवस्था अच्छी तरह नहीं चल रही है, साधुओं की स यम समाधि एव बाह्य वातावरण क्षुब्ध हो रहा है, गच्छ में अन्य योग्य भिक्षु तैयार हो गये हैं तो गच्छ के स्थविर या प्रमुख साधु साध्वियाँ आदि मिलकर आचार्य को पद त्यागने के लिये निवेदन करके अन्य योग्य को पद पर नियुक्त कर सकते हैं।

ऐसी स्थिति में यदि वे पद त्यागना न चाहें या अन्य कोई साधु उनका पक्ष लेकर आग्रह करे तो वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते है। ***व्यवहारसूत्र, उद्देशक-४, सूत्र-१३।***

इस सूत्रोक्त आगम आज्ञा को भलीभाँति समझकर सरलता पूर्वक पद देना, लेना या छोड़ने के लिए निवेदन करना आदि प्रवृत्तियाँ करनी चाहिए तथा अन्य सभी साधु-साध्वियों को भी प्रमुख स्थविर स तों को सहयोग देना चाहिए। किन्तु अपने अपने विचारों की सिद्धि के लिये निंदा, द्वेष, कलह या स घभेद आदि अनुचित तरीकों से पद छुड़ाना या कपट-चालाकी से पद प्राप्त करने की कोशिश करना सर्वथा अनुचित समझना चाहिए।

गच्छ-भार स भालने वाले पूर्व के आचार्य का तथा गच्छ के अन्य प्रमुख स्थविर स तों का यह कर्तव्य है कि वे निष्पक्ष भाव से तथा विशाल दृष्टि से गच्छ एव जिनशासन का हित सोचकर आगम निर्दिष्ट गुणों से सम्पन्न भिक्षु को ही पद पर नियुक्त करे। कई साधु स्वय ही आचार्य बनने का स कल्प कर लेते हैं, वे ही कभी अशा त एव क्लेश की स्थिति पैदा करते हैं या करवाते हैं। किन्तु मोक्ष की साधना के लिए स यमरत भिक्षु को जल-कमलवत् निर्लेप रहकर एकत्व आदि भावना में तल्लीन रहना चाहिए। किसी भी पद की चाहना करना या पद के लिए लालायित रहना भी स यम का दूषण है। इस चाहना में बाह्य ऋद्धि की इच्छा होने से इसका समावेश लोभ नामक पाप में होता है तथा उस इच्छा की पूर्ति में अनेक प्रकार के स यम विपरीत स कल्प एव कुटिल नीति आदि का अवल बन भी लिया जाता है, जिससे स यम की हानि एव विराधना होती है। साथ ही मान कषाय की अत्यधिक पुष्टि होती

है। निशीथ उद्देशक १७ में अपने आचार्यत्व के सूचक लक्षणों को प्रकट करने वाले को प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

अतः स यमसाधना में लीन गुणसम्पन्न भिक्षु को यदि आचार्य या अन्य गच्छप्रमुख स्थविर गच्छभार स भालने के लिये निर्णय करें या आज्ञा दें तो अपनी क्षमता का एव अवसर का विचार कर उसे स्वीकार करना चाहिए किन्तु स्वय ही आचार्य पद प्राप्ति के लिए स कल्पबद्ध होना एव न मिलने पर गण का त्याग कर देना आदि सर्वथा अनुचित्त होता है। इस प्रकार इस सूत्र में निर्दिष्ट सम्पूर्ण सूचनाओं को समझ कर सूत्र निर्दिष्ट विधि से पद प्रदान करना चाहिए और इससे विपरीत अन्य अयोग्य एव अनुचित्त मार्ग स्वीकार नहीं करना चाहिए।

इस सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि स्याद्वाद सिद्धान्त वाले वीतराग मार्ग में विनय-व्यवहार एव आज्ञापालन में भी अनेका तिक विधान है- अर्थात् विनय के नाम से केवल **'बाबावाक्य प्रमाण'** का निर्देश नहीं है। इसी कारण आचार्य द्वारा निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट भिक्षु की योग्यता-अयोग्यता की विचारणा एव नियुक्ति का अधिकार सूचित किया गया है।

ऐसे आगम विधानों के होते हुए भी परम्परा के आग्रह से या **'बाबावाक्य प्रमाण'** की उक्ति चरितार्थ करके आगम विपरीत प्रवृत्ति करना अथवा भद्रिक एव अकुशल सर्व रत्नाधिक साधुओं को गच्छप्रमुख रूप में स्वीकार कर लेना गच्छ एव जिनशासन के सर्वतोमुखी पतन का ही मार्ग है। अतः स्यद्वादमार्ग को प्राप्त करके आगम विपरीत परम्परा एव निर्णय को प्रमुखता न देकर सदा जिनाज्ञा एव शास्त्राज्ञा को ही प्रमुखता देनी चाहिए।

निबंध- ३१

दस प्रायश्चितों का स्वढप एव विश्लेषण

(१) आलोचना के योग्य- क्षेत्रादि के कारण आपवादिक व्यवहार, शिष्टाचार प्रवृत्ति आदि की केवल आलोचना से शुद्धि होती है।

२. प्रतिक्रमण के योग्य- असावधानी से होने वाली अयतना की

शुद्धि केवल प्रतिक्रमण से(मिच्छामि दुक्कड़ से) होती है।

३. तदुभय योग्य– तप प्रायश्चित्त के अयोग्य, समिति आदि के अत्य त अल्प दोषों की शुद्धि आलोचना एव प्रतिक्रमण से हो जाती है।

४. विवेक योग्य– भूल से ग्रहण किये गये दोष युक्त या अकल्पनीय आहारादि के ग्रहण किये जाने पर अथवा क्षेत्र काल स ब धी आहार की मर्यादा का उल्ल घन होने पर उसे परठ देना ही विवेक प्रायश्चित्त है।

५. व्युत्सर्ग के योग्य– किसी साधारण भूल के हो जाने पर निर्धारित श्वासोच्छवास के कार्योत्सर्ग का प्रायश्चित्त दिया जाय यह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। उभय काल प्रतिक्रमण में पाँचवा आवश्यक भी इसी प्रायश्चित्त रूप है।

६. तप के योग्य– मूल गुण या उत्तर गुण में दोष लगाने पर पुरिमड्ढ (दो पोरसी)से लेकर ६ मासी तप तक का प्रायश्चित्त होता है। यह दो प्रकार का है – १. शुद्ध तप, २. परिहार तप।

७. छेद के योग्य– दोषों के बार-बार सेवन से, अकारण अपवाद सेवन से या अधिक लोक निन्दा होने पर आलोचना करने वाले की एक दिन से लेकर छः मास तक की दीक्षा पर्याय का छेदन करना।

८. मूल के योग्य– छेद के योग्य दोषों में उपेक्षा भाव या **स्वच्छ दता** होने पर पूर्ण दीक्षा छेद करके नई दीक्षा देना।

९,१०. अनवस्थाप्य पारा चिक प्रायश्चित्त– वर्तमान में इन दो प्रायश्चित्तों का विच्छेद होना माना जाता है। इन दोनों में नई दीक्षा देने के पूर्व कठोर तपमय साधना करवाई जाती है, कुछ समय समूह से अलग रखा जाता है फिर एक बार गृहस्थ का वेष पहनाकर पुनः दीक्षा दी जाती है इन दोनों में विशिष्ट तप एव उसके काल आदि का अ तर है। **तप**– गर्मी में उपवास, बेला, तेला; शर्दी में– बेला, तेला, चौला; चोमासे में– तेला, चोला, पंचोला यों जघन्य उत्कृष्ट तप निर्देशानुसार दोनों प्रायश्चित्त में किया जाता है। **समय**– अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त में जघन्य छ मास उत्कृष्ट एक वर्ष और पारांचिक प्रायश्चित्त में जघन्य छ मास उत्कृष्ट १२ वर्ष।

निशीथ सूत्र में मासिक आदि तप प्रायश्चित्तों का कथन है भाष्य

गाथा ६४९९ में कहा है कि १९ उद्देशकों में कहे गये प्रायश्चित्त ज्ञान दर्शन चारित्र के अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार एव अनाचार के हैं। इनमें से स्थविरकल्पी को किसी अनाचार का आचारण करने पर ही प्रायश्चित्त आते हैं और जिनकल्पी को अतिक्रम आदि चारों के ये प्रायश्चित्त आते हैं।

१. अतिक्रम = दोष सेवन का स कल्प। **२. व्यतिक्रम** = दोष सेवन के पूर्व की तैयारी प्रार भ। **३. अतिचार** = दोष सेवन के पूर्व की प्रवृत्ति का लगभग पूर्ण हो जाना। **४. अनाचार** = दोष का सेवन कर लेना। जैसे कि – १. आधाकर्मी आहार ग्रहण करने का स कल्प, २. उसके लिए जाना, ३. लाकर रखना, ४. खा लेना।

स्थविरकल्पी को अतिक्रमादि तीन से व्युत्सर्ग तक के पाँच प्रायश्चित्त आते हैं एव अनाचार सेवन करने पर उन्हें आगे के पाँच प्रायश्चित्तों में से कोई एक प्रायश्चित्त आता है।

परिहार तप एव शुद्ध तप किन-किन को दिया जाता है यह वर्णन **भाष्य गाथा ६५८६ से ९१ तक** में है। वहाँ पर यह भी कहा है कि साध्वी को एव अगीतार्थ, दुर्बल और अ तिम तीन स घयण वाले भिक्षु को शुद्ध तप प्रायश्चित्त ही दिया जाता है, परिहार तप नहीं दिया जाता है। २० वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले को, २९ वर्ष की उम्र से अधिक वय वाले को, उत्कृष्ट गीतार्थ ९ पूर्व के ज्ञानी को, प्रथम स हनन वाले को तथा अनेक अभिग्रह तप साधना के अभ्यासी को परिहार तप दिया जाता है। भाष्य गाथा. ६५९२ में परिहार तप देने की पूर्ण विधि का वर्णन किया गया है।

व्यवहार सूत्र प्रथम उद्देशक के सूत्र ५, १० तथा ११ से १४ तक के सूत्रों में ***''तेण पर पलिउ चिय अपलिउंचिय ते चेव छम्मासा''*** यह वाक्य है इसका आशय यह समझना चाहिए कि इसके आगे कोई ६ मास या ७ मास के योग्य प्रायश्चित्त का पात्र हो अथवा कपट सहित या कपट रहित आलोचना करने वाला हो तो भी यही छः मास का प्रायश्चित्त आता है इससे अधिक नहीं आता है।

सुबहुहिं वि मासेहिं, छण्ह मासाण पर ण दायव्व ॥६५२४॥

चूर्णि– *तवारिहेहिं बहुहिं मासेहिं छम्मासा पर ण दिज्जइ, सव्वस्सेव एस णियमो, एत्थ कारण जम्हा अम्ह वद्धमाण सामिणो एव चेव पर पमाण ठवित ।*

भावार्थ– वर्धमान महावीर स्वामी के शासन में इतने ही प्रायश्चित्त की उत्कृष्ट मर्यादा है और सभी साधु-साध्वी के लिए यह नियम है ।

अगीतार्थ, अतिपरिणामी, अपरिणामी साधु-साध्वी को ६ मास का तप ही दिया जाता है, छेद प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है । किन्तु दोष को पुनः पुनः सेवन करने पर या आकुट्टी बुद्धि अर्थात् मारने के स कल्प से प चेन्द्रिय की हिंसा करने पर या दर्प से कुशील के सेवन करने पर इन्हें छेद प्रायश्चित्त दिया जा सकता है तथा छेद के प्रति उपेक्षावृत्ति रखने वालों को ***''मूल प्रायश्चित्त''*** दिया जाता है ।

अन्य अनेक छोटे बड़े दोषों के सेवन करने पर प्रथम बार में छेद या मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है, किन्तु जिसे एक बार इस प्रकार की चेतावनी दे दी गई है कि ***''हे आर्य ! यदि बार बार यह दोष सेवन किया तो छेद या मूल प्रायश्चित्त दिया जायेगा''*** उसे ही छेद या मूल प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। जिसे इस प्रकारकी चेतावनी नहीं दी गई है उसे छेद या मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जा सकता है। भाष्य में चेतावती दिये गये साधु को ***'विकोवित'*** एव चेतावनी नहीं दिये गये साधु को ***'अविकोवित'*** कहा गया है विकोवित को भी प्रथम बार लघु दूसरी बार गुढ एव तीसरी बार छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है।

छेद प्रायश्चित्त भी उत्कृष्ट छः मास का होता है तथा तीन बार तक दिया जा सकता है उसके बाद मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

यथा :– *छम्मासोवरी जई पुणो आवज्जइ तो तिण्णि वारा लहु चेव छेदो दायव्वो। एस अविसिट्ठो वा तिण्णि वारा छल्लहु छेदो।*

अहवा :– *ज चेव तव तिय त चेव छेदतिय पि–मासब्भ तर , चउमासब्भ तर च, जम्हा एव तम्हा भिण्णमासादि जाव छम्मास , तेसु छिण्णेसु छेय तिय अतिक्क त भवति। ततो वि जति पर आवज्जति तो तिण्णि वार मूल दिज्जति। – चूर्णि भाग–४, पृ. ३५१–५२ ।*

इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्धमान महावीर स्वामी के शासन में तप और छेद प्रायश्चित्त छः मास से अधिक देने का विधान नहीं

है। अतः किसी भी दोष का छः मास तप या छेद से अधिक प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए। क्योंकि अधिक प्रायश्चित्त देने पर ''तेण पर '' इस सूत्रा श से एव भाष्योक्त परम्परा से विपरीत आचरण होता है। मूल (नई दीक्षा) प्रायश्चित्त भी तीन बार दिया जा सकता है और छः मास का तप और छः मास का छेद भी तीन बार ही दिया जा सकता है। उसके बाद आगे का प्रायश्चित्त दिया जाता है। अ त में गच्छ से निकाल दिया जाता है।

निबंध– ३२

६ महीने से अधिक कोई भी प्रायश्चित नहीं

(१) साधु जितने समय अकेला विचरण करे उतने समय का दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त। (२) छः महीनों से अधिक ***यावत्*** अनेक वर्षों का दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त ।

उक्त दोनों प्रकार के प्रायश्चित्त आगम विपरीत है। क्यों कि साधु के अकेले रहने का प्रायश्चित्त विधान किसी भी सूत्र में (३२ सूत्र में) नहीं है। निशीथ सूत्र में सेकड़ों प्रायश्चित्त विधान है उनमें भी उक्त प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं है ।तब फिर उतने ही दिन की दीक्षा कट करना अर्थात् सातवाँ प्रायश्चित्त देना आगमानुसार नहीं है। अन्य भी किसी विषय में उतने ही दिन का प्रायश्चित्त देने का विधान किसी भी आगम में नहीं है फिर भी वैसा अर्थ करने की एक भ्रमित पर परा चल पड़ी है। जबकि उन्हीं सूत्रों के व्याख्या ग्रन्थों में उन सूत्रों का वैसा अर्थ करने की प्रणाली नहीं है, यह स्पष्ट है।

छेद प्रायश्चित्त देने की विधि बताते हुए व्याख्याकारों ने जघन्य ५ दिन के छेद प्रायश्चित्त से प्रार भ करके १०, १५ दिन ***यावत्*** ६ महीने के छेद तक प्रायश्चित्त की वृद्धि करने का क्रम दिया है । उसके बाद चर्चा विचारणा करके स्पष्ट किया है कि २४ वें तीर्थंकर के शासन में तप और छेद प्रायश्चित्त छः मास से अधिक देने का विधान नहीं है। यह ६ मास का उत्कृष्ट छेद प्रायश्चित्त भी किसी गलती के बार बार करने पर तीन बार दिया जा सकता है उसके बाद चौथी बार उसे नई दीक्षा का प्रायश्चित्त

दिया जाता है। इस प्रकार १३०० वर्ष पूर्व के प्राचीन व्याख्याकारों ने छः मास से अधिक छेद प्रायश्चित्त देने का स्पष्ट निषेध किया है ।

शास्त्र में साधु का दूसरा मनोरथ ही अकेले रह कर आत्म उन्नति करने का है। कई आगमों में अकेले रहने की प्रेरणा भी की गई है। सपरिस्थितिक या अपरिस्थितिक एव प्रशस्त या अप्रशस्त इत्यादि एकल विहारों का विशेष वर्णन है। व्यवहार सूत्र में वृद्धावस्था वाले विशेष कारणिक शरीरी एकल विहारी के प्रति सद्भावना पूर्ण वर्णन है।

ऐसी स्थिति में स घ के आचार्य, उपाध्याय एव अनेक गच्छ प्रमुख गतानुगतिक होकर आगम विरूद्ध खोटी पर परा को पकड़ कर उतने ही समय का दीक्षा छेद प्रायश्चित्त देकर एकल विहार का घोर अपमान करके स्वय की अगीतार्थता और अबहुश्रुतता प्रकट करते हैं। एव लकीर के फकीर बनते हैं। उन्हें पूछ लिया जाय कि एकल विहारी को उतने दिन का दीक्षा कट का प्रायश्चित्त आप किसी आगम प्रमाण से देते हैं? प्रमाणित करिये। तो उन्हें इधर-उधर बगलें झाँकने के कर्तव्य करते ही पाया जायेगा।

अतः पूज्य आचार्य, उपाध्याय एव प्रवर्तक आदि पदवीधरों तथा गच्छ प्रमुखों से निवेदन है कि वे पहले अच्छी तरह छेद सूत्रों के व्याख्या ग्रन्थों से प्रायश्चित्त विधानों एव उनके मर्मों को समझें, सच्चे बहुश्रुत बनें, फिर गच्छ प्रमुख या पदवीधर कहलावें। ऐसा न कर सकते तो अबहुश्रुत अवस्था के अपने लिये हुए पद का मोह न करते हुए उसका सहर्ष त्याग कर सामान्य साधक अवस्था में रह कर ही जिन शासन में स यम साधना करें। किन्तु अबहुश्रुत होकर जिन शासन के पदों की शान न बिगाड़ें।

वर्तमान में छः महीने से अधिक तप प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है ऐसा सभी श्रमण सामान्य रूप से समझते है किन्तु छेद प्रायश्चित्त भी छःमास से अधिक नहीं दिया जाता है, यह निशीथ उद्दे० २० की व्याख्या में चर्चा सहित स्पष्ट किया गया है। प्रमाण के लिये कोई भी जिज्ञासु निशीथचूर्णि, भाग-४ पृ०३५१-५२ देखें तथा व्यवहार सूत्र के प्रथम उद्देशक का भाष्य टीका एव बृहत्कल्प भाष्य गाथा ७०७ एव ७१० भी

टीका सहित देखें। (ये दोनों गाथाएँ अगले पृष्टों में दी गई है।)

इन स्थलों में ६ मास से अधिक दीक्षा कट करने के प्रायश्चित्त का निषेध है । साथ ही दीक्षा कट का प्रायश्चित्त कैसी योग्यता वाले को दिया जाता है और किसे नहीं दिया जाता है यह स्पष्ट किया गया है फिर भी अनेक आचार्य और गच्छ प्रमुख बिना विचारे हर किसी को ढ़र्रे मात्र से दीक्षा कट का प्रायश्चित्त दे देते हैं वह भी छः मास का उल्ल घन करके वर्ष, दो वर्ष यावत् दस वर्ष का प्रायश्चित्त घोषित कर देते हैं, वह सर्वथा अनुचित एव आगम निरपेक्ष है।

सार– ***छेद सूत्रों के अर्थ परमार्थ का ज्ञाता(विशेषज्ञ)ही बहुश्रुत (गीतार्थ) कहा जाता है और वैसा बहुश्रुत ही गुरू या आचार्य अथवा गच्छ प्रमुख एव पदवीधर बनाया जाना चाहिये। अबहुश्रुतों को गुरू आदि बनाना आगम आज्ञा की अवहेलना करना है। आगम विपरीत प्रायश्चित्त देने वाले स्वय गुढचौमासी प्रायश्चित्त के भागी बनते हैं। देखें-निशीथ उद्दे० १०, सूत्र : १५-१८***

आगम में यक्षाविष्ट पागल आदि अनेक प्रकार के रूग्ण भिक्षुओं की सेवा करना परम कर्तव्य बताया गया है और उन्हें गच्छ से निकालने का निषेध किया गया है। उनकी सेवा भी अन्य सेवा से विशेष प्रकार की होती है। पागल एव यक्षाविष्ट व्यक्ति के साथ अनेक प्रकार के व्यवहार विवेक पूर्वक किये जाते हैं।

ऐसी सभी स्थितियों से युक्त सेवा करने वाले को आगम में लघु से लघु प्रायश्चित्त देने का विधान है। अन्य भी सभी प्रकार की सेवा करने वाले साधु को एव सेवा में जाने वाले साधु को छोटा से छोटा प्रायश्चित्त देने का आगमों में विधान है।

स्पष्ट आगम प्रमाण उपलब्ध होते हुए भी आज के प्रायश्चित्त दाता निःस्वार्थ भाव से सेवा करने वाले को छोटे से छोटा प्रायश्चित्त देने की आज्ञा का उल्ल घन कर गुरू प्रायश्चित्त या उससे भी आगे बढ कर छेद प्रायश्चित्त दे देते हैं यह सर्वथा अनुचित्त है और शास्त्र मर्यादा का उल्ल घन है।

व्यवहार सूत्र में प्रायश्चित्त वहन करने वाले परिहारिक साधु को सेवा में भेजने का वर्णन है। वह यदि मार्ग में स्वेच्छा से अपनी कोई कल्प मर्यादा का उल्ल घन करले और आचार्य को मालूम पड़ जाय

तो भी उसे सेवा का कार्य समाप्त होने पर ही छोटा से छोटा प्रायश्चित्त देने का विधान है। यह सेवा कार्य का सन्मान है कि उसके व्यक्तिगत अपराध को भी गौण कर दिया जाता है। तब निःस्वार्थ सेवारत भिक्षुओं को छेद जैसा प्रायश्चित्त देना जिनशासन का महान अपराध है एव सेवा कृत्य का अबहुमान है।

शास्त्रकार तो सेवा काल में हुई उसकी स यम स्खलनाओं की शुद्धि हेतु छोटा से छोटा प्रायश्चित्त देने का ही स्पष्ट निर्देश करते हैं। अतः प्रायश्चित्त दाताओं को इस ओर भी विशेष ध्यान देकर गतानुगतिक पर परा के निर्णयों में सुधार करना चाहिये । क्यों कि अयोग्य और अनुचित अथवा आगम विपरीत प्रायश्चित्त देने वाले को निशीथ उद्देशक १० के अनुसार गुढ चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सेवा करने वाले की स यम स्खलनाएँ– (१) ड़ाक्टर को बुलाना एव उनसे बार बार सम्पर्क करना (२) क्रीत औषध लाकर देना या खरीद कर म गाना (३) ड़ाक्टरों के आर भ युक्त प्रवृत्तियों में सहयोग देना (४) रोगी मुनि के साथ अस्पताल में रहना (५) स यम मर्यादाओं में रोगी के लिये अपवाद सेवन करना (६) गवेषणा के नियमों का पालन न होना (७) रोगी के साथ जाने हेतु वाहन प्रयोग करना इत्यादि यथा प्रस ग अनेक प्रवृतियों को उदाहरणार्थ समझ लेना चाहिये। ये प्रवृत्तियाँ भी निःश्वार्थ भाव से केवल रोगी की सेवा परिचर्या भावना से ओतप्रोत होकर की जाती है इसलिये इनका गुढ प्रायश्चित्त या छेद प्रायश्चित्त नहीं आता हैं।

तुल्ला चेव उ ठाणा, तव–छेयाण हव ति दोण्ह पि ।
पणगाइ पणगवुड्ढी, दोण्ह वि छम्मास निट्ठवणा ॥७०७॥

तपश्छेदयोर्द्वयोरपि स्थानानि तुल्यान्येव भवन्ति, न हीनानि नाप्यधिका– नीति एव शब्दार्थः। कुतः ? इत्याह– ''पणगा'' इत्यादि। यतः ''द्वयोरपि'' तपश्छेदयोः प चक–प च रात्रिन्दिवान्यादौ कृत्वा प चकवृद्धया वर्द्धमानाना स्थानाना षण्मासेषु ''निष्ठापना'' समापना भवति। इयमत्र भावना– लघुप चकादीनि गुरूषाण्मासिकपर्यन्तानि यान्येव तपः स्थानानि तान्येव च्छेदस्यापीति तुल्यान्येवानयोः स्थानानि । एतेन च

लघुप चकादर्वाग् गुढभ्यः षण्मासेभ्यः ऊर्ध्व छेदो न भवतीत्यावेदित द्रष्टव्यम् (७०७) ।

भावार्थ :– तप और छेद दोनों प्रायश्चित्त के स्थान समान है । इन दोनों प्रायश्चित्त में पाँच दिन की वृद्धि करते हुए उत्कृष्ट ६ महिने का तप और छेद प्रायश्चित्त होता है इसलिये ६ महीने से आगे छेद (दीक्षा कट का) प्रायश्चित्त नहीं होता है ऐसा बताया गया है, दिखाया गया है। (७०७)

दुविहो य होइ छेदो, देसच्छेदो य सव्वछेदो य ।
मूलाणवट्ठप्प चरिमा, सव्वच्छेओ अतो सत्त ॥७१०॥

इह च्छेदो द्विविधो भवति– देशच्छेदश्च सर्वचछेदश्च। प चकादिकः षण्मासपर्यन्तो देशच्छेदः। मूलक-अनवस्थाप्य-पारा चिकानि पुनर्देशोन-पूर्वकोटिप्रमाणस्यापि पर्यायस्य युगपत् छेदकत्वात् सर्वच्छेदः। एष द्विविधोपि सामान्यतश्छेदशब्देन ग्रह्यते इति विवक्षया सप्तविध प्रायश्चित्तम् (७१०)

भावार्थ :– अपेक्षा से प्रायश्चित्त के सात प्रकार कहे गये हैं। सातवाँ छेद प्रायश्चित्त है उसका दो भेद है– (१) देश छेद (२) सर्व छेद। पहला देश छेद प्रायश्चित्त पाँच दिन से लेकर उत्कृष्ट ६ महीने का होता है और सर्व छेद प्रायश्चित्त के तीन प्रकार है– (१) मूल(नई दीक्षा) प्रायश्चित्त (२) अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त (३) पार चिक प्रायश्चित्त। इन तीनों प्रायश्चित में एक बार में ही सम्पूर्ण दीक्षा पर्याय का छेदन हो जाता है।–***बृहत्कल्प भाष्य पीठिका*** ।

सार :– ६ महीने से अधिक दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त नहीं होता है। इसके आगे नई दीक्षा देने रूप मूल प्रायश्चित्त ही होता है किन्तु ८ मास, १० मास या वर्ष दो वर्ष **यावत्** दस वर्ष का दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है। अतः एकल विहार या किसी भी अन्य दोष का ६ महीने से अधिक दीक्षा छेद प्रायश्चित्त देना अज्ञानदशा एव अ धानुकरण है।

एकल विहार का उत्कृष्ट गुरू चौमासी प्रायश्चित्त ही आता है। उसका उतने ही दिन का दीक्षा कट का प्रायश्चित्त देना भी भेड़ चाल मात्र है। जो किसी भी शास्त्र या उनकी प्राचीन व्याख्याओं से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। ऐसे आगम विपरीत प्रायश्चित्त

देने वाले स्वय प्रायश्चित्त के पात्र है-***निशी॰ उद्दे॰ १०.*** ऐसा आगम विपरीत प्रायश्चित्त कोई आचार्य भी देवे तो उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये, स्वीकार नहीं करना चाहिये, इन्कार कर देना चाहिये-प्रमाण के लिये देखें- ***बृहत्कल्प सूत्र उद्दे॰ ४ का सूत्र ३० का मूल पाठ एव विवेचन।***

निबंध- ३३

उत्सर्ग-अपवाद मार्ग का विवेक ज्ञान

उत्सर्ग और अपवाद दोनों का लक्ष्य है- जीवन की शुद्धि, आध्यात्मिक विकास, स यम की सुरक्षा तथा ज्ञानादि सद्गुणों की वृद्धि । जैसे राजपथ पर चलने वाला पथिक यदा कदा विशेष बाधा उपस्थित होने पर राजमार्ग का परित्याग कर पास की पगड़ ड़ी पकड़ लेता है और कुछ दूर जाने के बाद किसी प्रकार की बाधा दिखाई न दे तो पुनः राजमार्ग पर लौट आता है। यही बात उत्सर्ग से अपवाद में जाने और अपवाद से उत्सर्ग में आने के स ब ध में समझ लेनी चाहिए । दोनों का लक्ष्य प्रगति है, अतः दोनों ही मार्ग हैं, कुमार्ग या उन्मार्ग नहीं है। दोनों के समन्वय से साधक की साधना समृद्ध होती है।

प्रश्न- उत्सर्ग और अपवाद कब और कब तक ?

प्रश्न वस्तुतः महत्त्व का है। उत्सर्ग साधना की सामान्य विधि है। अतः उस पर साधक को सतत चलना होता है। उत्सर्ग छोड़ा सकता है किन्तु अकारण नहीं। किसी विशेष परिस्थितिवश ही उत्सर्ग का परित्याग कर अपवाद अपनाया जाता है, पर सदा के लिये नहीं। जो साधक अकारण उत्सर्ग मार्ग का परित्याग कर देता है अथवा सामान्य कारण उपस्थित होने पर उसे छोड़ देता है अथवा परिस्थितिवश ग्रहण किये अपवाद मार्ग को सदा के लिये पकडे रखता है वह सच्चा साधक नहीं है वह जिनाज्ञा का आराधक नहीं अपितु विराधक है। (जैसे चौथ की स वत्सरी)

जो व्यक्ति अकारण औषध सेवन करता है अथवा रोग न होने पर भी रोगी होने का अभिनय करता है, वह धूर्त है, कर्तव्यविमुख है।

ऐसे व्यक्ति स्वय पथभ्रष्ट होकर समाज को भी कल कित करते हैं। यही दशा उन साधकों की है जो साधारण कारण से उत्सर्ग मार्ग का परित्याग कर देते हैं या अकारण ही अपवाद का सेवन करते रहते हैं, कारणवश एक बार अपवाद सेवन के बाद, कारण समाप्त होने पर भी अपवाद का सतत सेवन करते रहते हैं। ऐसे साधक स्वय पथभ्रष्ट होकर समाज में भी एक अनुचित्त उदाहरण उपस्थित करते हैं। ऐसे साधकों का कोई सिद्धा त नहीं होता है और न उनके उत्सर्ग अपवाद की कोई सीमा होती है। वे अपनी वासनापूर्ति के लिए या दुर्बलता छिपाने के लिए विहित अपवाद मार्ग को बदनाम करते हैं।

अपवाद मार्ग भी एक विशेष मार्ग है। वह भी साधक को मोक्ष की ओर ही ले जाता है, स सार की ओर नहीं। जिस प्रकार उत्सर्ग स यम मार्ग है उसी प्रकार अपवाद भी स यम मार्ग है। किन्तु वह अपवाद वस्तुतः अपवाद होना चाहिये। अपवाद के पवित्र वेश में कहीं भोगाका क्षा या कषाय वृत्ति(मान स ज्ञा) चकमा न दे जाय, इसके लिये साधक को सतत सजग, जागरूक एव सचेष्ट रहने की आवश्यकता है।

साधक के सन्मुख वस्तुतः कोई विकट परिस्थिति हो, दूसरा कोई सरल मार्ग सूझ ही न पड़ता हो, फलतः अपवाद अपरिहार्य स्थिति में उपस्थित हो गया हो तभी अपवाद का सेवन धर्म होता है और ज्यों ही समागत तूफानी वातावरण साफ हो जाय, स्थिति की विकटता न रहे, त्यों ही अपवाद मार्ग को छोडकर उत्सर्ग मार्ग पर आरूढ़ हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में क्षण भर का विल ब भी(स यम) घातक हो सकता है। और एक बात यह भी है कि जितना आवश्यक हो उतना ही अपवाद का सेवन करना चाहिए। ऐसा न हो कि जब यह कर लिया तो अब इसमें क्या है ? यह भी कर लें। जीवन को निर तर एक अपवाद से दूसरे अपवाद पर शिथिल भाव से लुढ काते जाना अपवाद नहीं है। जिन लोगों को मर्यादा का भान नहीं है, अपवाद की मात्रा एव सीमा का परिज्ञान नहीं है, उनका अपवाद के द्वारा उत्थान नही है अपितु शतमुख पतन होता है। एक बहुत सुन्दर पौराणिक दृष्टा त है। उस पर से सहज समझा जा सकता है कि उत्सर्ग और अपवाद की अपनी क्या सीमाएँ होती है और उसका

सूक्ष्म विश्लेषण किस ईमानदारी से करना चाहिए।

दृष्य त :– एक विद्वान ऋषि कहीं से गुजर रहे थे। भूख और प्यास से अत्य त व्याकुल थे। द्वादशवर्षी भय कर दुर्भिक्ष था। राजा के कुछ हस्तीपक (पीलवान) एक जगह साथ बैठकर भोजन कर रहे थे। ऋषि ने भोजन मा गा। उत्तर मिला–'भोजन तो झूठा है' ऋषि बोले– 'झूठा है तो क्या, आखिर पेट तो भरना है' 'आपत्काले मर्यादा नास्ति' भोजन लिया, खाया और चलने लगे तो उन लोगों ने जल लेने को कहा, तब ऋषि ने उत्तर दिया– 'जल झूठा है, मैं नहीं पी सकता'। लोगों ने कहा कि मालूम होता है कि– 'अन्न पेट में जाते ही बुद्धि लौट आई है'। ऋषि ने शा त भाव से कहा बन्धुओं ! तुम्हारा सोचना ठीक है किन्तु मेरी एक मर्यादा है। अन्न अन्यत्र मिल नहीं रहा था और मैं भूख से इतना व्याकुल था कि प्राण क ठ में आ रहे थे और अधिक सहने की क्षमता समाप्त हो चुकी थी, अतः मैंने झूठा अन्न भी अपवाद की स्थिति में स्वीकार कर लिया। अब जल तो मेरी मर्यादा के अनुसार अन्यत्र शुद्ध मिल सकता है। अतः व्यर्थ ही झूठा जल क्यों पीऊँ।

स क्षेप में सार यह कि जब तक चला जा सकता है उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना चाहिए, जब चलना सर्वथा दुस्तर हो जाय, दूसरा कोई इधर-उधर बचाव का मार्ग न रहे तब ही अपवाद मार्ग का सेवन करना चाहिए और ज्यों ही स्थिति सुधर जाय पुनः तत्क्षण उत्सर्ग मार्ग पर लौट आना चाहिए।

उत्सर्ग मार्ग सामान्य मार्ग है। यहाँ कौन चले कौन नहीं चले, इस प्रश्न के लिये कुछ भी स्थान नहीं है। जब तक शक्ति रहे, उत्साह रहे, आपत्ति काल में भी किसी प्रकार का ग्लानिभाव न आवे, धर्म एव स घ पर किसी प्रकार का उपद्रव न हो अथवा ज्ञान दर्शन चारित्र की क्षति का कोई विशेष प्रस ग उपस्थित न हो, तब तक उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना है, अपवाद मार्ग पर नहीं।

अपवाद मार्ग पर कभी कदाचित् ही चला जाता है। इस पर हर कोई साधक हर किसी समय नहीं चल सकता है। जो स यमशील

साधक आचरा ग सूत्र आदि आचारस हिता का पूर्ण अध्ययन कर चुका है, गीतार्थ है, निशीथ सूत्र आदि छेद सूत्रों के सूक्ष्मतम मर्म का भी ज्ञाता है, उत्सर्ग–अपवाद पदों का अध्ययन ही नहीं अपितु स्पष्ट अनुभव रखता है, वही अपवाद के स्वीकार या परिहार के स ब ध में ठीक-ठीक निर्णय दे सकता है। अतः सभी अपवादिक विधान करने वाले सूत्रों में कही गई प्रवृत्तियों को करने में इस उत्सर्ग–अपवाद के स्वरूप स ब धी वर्णन को ध्यान में रखना चाहिए।

निबंध– ३४

साधु-साध्वी की परस्पर सेवा आलोचना

(व्यवहारसूत्र, उद्दे.–५, सूत्र : १९, २०) बृहत्कल्पसूत्र के चौथे उद्देशक में बारह सा भोगिक व्यवहारों का वर्णन करते हुए औत्सर्गिक विधि से साध्वियों के साथ साधु को छः सा भोगिक व्यवहार रखना कहा गया है। तदनुसार साध्वियों के साथ एक मा ड़लिक आहार का व्यवहार नहीं होता है तथा आगाढ़ कारण के बिना उनके साथ आहारादि का लेन-देन भी नहीं होता है तो भी वे साधु-साध्वी एक आचार्य की आज्ञा में होने से और एक गच्छ वाले होने से सा भोगिक कहे जाते हैं।

ऐसे सा भोगिक साधु-साध्वियों के लिए भी आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि परस्पर में करना निषिद्ध है अर्थात् साधु अपने दोषों की आलोचना प्रायश्चित्त आचार्य उपाध्याय, स्थविर आदि के पास ही करे और साध्वियाँ अपनी आलोचना प्रायश्चित्त प्रवर्तिनी, स्थविरा आदि योग्य श्रमणियों के पास ही करे, यह विधि मार्ग या उत्सर्ग मार्ग है।

अपवादमार्ग के अनुसार किसी गण में साधु या साध्वियों में कभी कोई आलोचना–श्रवण के योग्य न हो या प्रायश्चित्त देने योग्य न हो तब परिस्थितिवश साधु स्वगच्छीय साध्वी के पास आलोचना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त कर सकता है और साध्वी स्वगच्छीय साधु के पास आलोचना आदि कर सकती है।

इस विधान से यह स्पष्ट है कि सामान्यतया एक गच्छ के साधु-साध्वियों को भी परस्पर आलोचना प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए।

परस्पर आलोचना का दुष्फल बताते हुए **भाष्य** में कहा गया है कि साधु या साध्वी को कभी चतुर्थ व्रत भ ग सम्बन्धी आलोचना करनी हो और आलोचना सुनने वाला साधु या साध्वी भी काम वासना से पराभूत हो तो ऐसे समय में उसे अपने भाव प्रकट करने का अवसर मिल सकता है और वह कह सकता है कि– 'तुम्हें प्रायश्चित्त तो लेना ही है तो एक बार मेरी इच्छा भी पूर्ण कर दो, फिर एक साथ प्रायश्चित्त हो जायेगा' इस प्रकार परस्पर आलोचना के कारण एक दूसरे का अधिकाधिक पतन होने की सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त अन्य दोषों की आलोचना करते समय भी एकान्त में पुनः पुनः साधु-साध्वी का सम्पर्क होने से ऐसे दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

ऐसे ही कारणों से स्वाध्याय या वाचना आदि के सिवाय आगमों में साधु-साध्वी का परस्पर सभी प्रकार का सम्पर्क वर्जित है। इसलिए उन्हें एक–दूसरे के उपाश्रय में सामान्य वार्तालाप हेतु या केवल दर्शन करने हेतु अथवा परम्परा पालन के लिये नहीं जाना चाहिए।

स्थाना गसूत्र निर्दिष्ट सेवा आदि परिस्थितियों से जाना तो आगम सम्मत है। साधु-साध्वियों के परस्पर सम्पर्क निषेध का विशेष वर्णन बृह. उ. ३ सूत्र एक के विवेचन में देखें। उस सूत्र में परस्पर एक दूसरे के उपाश्रय में बैठने-खड़े रहने आदि अनेक कार्यों का निषेध है।

साधु-साध्वी के शरीर सम्बन्धी और उपकरण सम्बन्धी जो भी आवश्यक कार्य हो वह प्रथम तो स्वय ही करना चाहिए और कभी कोई कार्य साधु अन्य साधुओं से और साध्वियाँ अन्य साध्वियों से भी करा सकती है, यह **विधि मार्ग** है। रोग आदि कारणों से या किसी आवश्यक कार्य में व्यस्त होने के कारण, असमर्थ होने से परिस्थितिवश विवेकपूर्वक साधु-साध्वी परस्पर भी अपना कार्य करवा सकते हैं, यह **अपवाद मार्ग** है। अतः विशेष परिस्थिति के बिना साधु-साध्वी को परस्पर कोई भी कार्य नहीं करवाना चाहिए। इन सूत्रों में पारस्परिक व्यवहारों के निषेध का मुख्य कारण यह है कि इन प्रवृत्तियों से अति सम्पर्क, मोहवृद्धि होने से कभी ब्रह्मचर्य में असमाधि उत्पन्न हो सकती है और इस प्रकार के परस्पर अनावश्यक अति सम्पर्क को देखकर जन

साधारण में कई प्रकार की कुश काएँ उत्पन्न हो सकती है। अतः सूत्रोक्त विधान के अनुसार ही साधु-साध्वियों को आचरण करना चाहिए एव परस्पर सेवा या आलोचना आदि नहीं करना या नहीं करवाना चाहिए।

परस्पर किये जाने वाले सेवा के कार्य :– (१) आहार-पानी लाकर देना या लेना अथवा निमन्त्रण करना। (२) वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की याचना करके लाकर देना या स्वय के याचित उपकरण देना। (३) उपकरणों का परिकर्म कार्य–सीना, जोड़ना, रोगानादि लगाना। (४) वस्त्र, रजोहरण आदि धोना। (५) रजोहरण आदि उपकरण बनाकर देना। (६) प्रतिलेखन आदि कर देना। इत्यादि अनेक कार्य यथासम्भव समझ लेने चाहिए,जिन्हें आगाढ़ परिस्थितियों के बिना परस्पर करना-करवाना साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता है एव करने-करवाने पर **गुढचौमासी प्रायश्चित्त** आता है।

आचार्य आदि पदवीधरों के भी प्रतिलेखना आदि सेवा कार्य केवल भक्ति प्रदर्शित करने के लिये **साध्वियाँ** नहीं कर सकती है। यदि आचार्य आदि इस तरह साध्वियों से अपना कार्य अकारण करवावें तो वे भी **गुढ चौमासी प्रायश्चित्त** के पात्र होते हैं।

तात्पर्य यह है कि साथ में रहने वाले साधु जो सेवा कार्य कर सकते हों तो साध्वियों से नहीं कराना चाहिए। उसी प्रकार साध्वियों को भी जब तक अन्य साध्वियाँ करने वाली हो तब तक साधुओं से अपना कोई भी कार्य नहीं करवाना चाहिए।

निबंध– ३५

श्रुत अध्ययन एव भिक्षु पड़िमा

(अ तगड़सूत्र–व्यवहारसूत्र) अ तकृत दशा सूत्र में ८८ श्रमण-श्रमणियों के श्रुत अध्ययन का वर्णन है जिसमें– ग्यारह अ ग को क ठस्थ करने वाले–६६ हैं। द्वादश अ ग–चौदह पूर्व क ठस्थ करने वाले–२२ हैं। इनमें ग्यारह अ ग क ठस्थ करने वालों की दीक्षा पर्याय पाँच वर्ष से लेकर अनेक वर्षो की है। चौदह पूर्व=बारह अ ग क ठस्थ करने वालों की दीक्षा पर्याय १६ और २० वर्ष है।

शास्त्र अध्ययन तीन वर्ष के पहले– व्यवहार सूत्र उद्देशक दस में शास्त्र अध्ययन का दीक्षा पर्याय से वर्णन किया गया है उसका सही अर्थ है कि सूत्र निर्दिष्ट वर्षों तक तो योग्य साधु-साध्वी को सूत्र कथित शास्त्र का अध्ययन कर ही लेना चाहिए या करा देना चाहिए।

'सूत्र निर्दिष्ट वर्षों के बाद ही उस सूत्र का अध्ययन करना या कराना' ऐसा अर्थ करना केवल मति–भ्रम ही है जिससे अनेक आगम पाठों की स गति भी नहीं होती है और अ तगड़ सूत्र में आये शास्त्र–अध्ययन के वर्णन से भी विरोध होता है। सूत्र का सही अर्थ न करके मतिभ्रम से गलत अर्थ करना और फिर आगम विहारी के समाधान से स तोष करना दोहरी भूल है। वैसा करने से कथानकों का समाधान मान भी लिया जाय तो भी छेद सूत्रों के अनेक विधानों का कुछ भी समन्वय समाधान नहीं हो सकेगा। अतः इस सूत्र में कहा गया ग्यारह अ ग और १४ पूर्व के अध्ययन वर्णन का व्यवहार सूत्र के विधान के सही अर्थ से कोई विरोध नहीं है।

व्यवहार सूत्र उद्देशक तीन के अनुसार तीन वर्ष की दीक्षा वाला श्रमण-श्रमणी पर्याय-स पन्न होने से मुखिया बनकर विचरण कर सकता है तथा जिनके आचारा ग–निशीथ सूत्र का अध्ययन पूर्ण नहीं हुआ है, वैसा साधु-साध्वी मुखिया बन कर विचरण नहीं कर सकता है और उद्देशक चार के अनुसार यदि उनका मुखिया काल धर्म को प्राप्त हो जाय तो उन्हें चातुर्मास में भी विहार करना आवश्यक हो जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि तीन वर्ष की दीक्षा वाला और आचारा ग निशीथ का अध्ययन कर उसे क ठस्थ धारण करने वाला ही मुखिया बनकर विचरण कर सकता है। इससे भी यह सिद्ध हुआ कि तीन वर्ष की दीक्षा तक कम से कम आचारा ग निशीथ का अध्ययन कर लेना चाहिए, ऐसा अर्थ करना ही आगमनुकूल है।

व्यवहार सूत्र के तीसरे उद्देशक में तीन वर्ष की दीक्षा वाले को उपाध्याय बनाने का स्पष्ट विधान है। वहाँ यह भी विधान है कि वह उपाध्याय बनने वाला साधु बहुश्रुत हो और कम से कम आचारा ग निशीथ को क ठस्थ अर्थ सहित धारण करने वाला हो। यदि मति भ्रम से किए जाने वाले अर्थ को सही माना जाय तो यह सूत्र विधान निरर्थक

हो जाएगा, क्यों कि उनके अनुसार तो तीन वर्ष के बाद आचारा ग निशीथ पढ़ाया जाना चाहिए। अतः सत्य अर्थ को स्वीकार कर श्रुत अध्ययन की महत्वपूर्ण प्रणाली को विकसित रखना चाहिए।

भिक्षु पड़िमा– इसके लिए पर परा से ऐसा कथन प्रचलित है कि नौ पूर्व ज्ञान धारण करने वाला ही भिक्षु की बारह पड़िमा धारण कर सकता है। अ तगड़ सूत्र में वर्णित, अनेक (३१) ऐसे श्रमणों ने भिक्षु पड़िमा का पालन किया जिन्होंने पूर्वों का ज्ञान हासिल नहीं किया था कि तु उन्होंने केवल ग्यारह अ ग शास्त्रों का ही अध्ययन किया था। किसी भी आगम में ऐसा नहीं कहा गया है कि पूर्वज्ञान धारी ही पड़िमा धारण करें किन्तु उससे विपरीत वर्णन तो सूत्र में अवश्य है। अतः प्रचलित पर परा आगम सम्मत नहीं है और आगम कथित भी नहीं है।

सार– **(१)** भिक्षु पड़िमा के लिए पूर्वों का ज्ञान आवश्यक नहीं है और किसी भी आगम में वैसा उल्लेख है भी नहीं। **(२)** भिक्षु की बारह पड़िमा में एकल विहार भी आवश्यक है । अतः सामान्य एकल विहार के लिए भी पूर्व ज्ञान का आग्रह स्पष्ट ही आगम विपरीत प्ररूपण है। **(३)** तीन वर्ष की दीक्षा के पहले ही आचारा ग निशीथ का अध्ययन पूर्ण कर देना चाहिए।

निबंध– ३६

साध्वी की गच्छ में रहते स्वतन्त्र गोचरी

व्यवहार सूत्र, उद्देशक–९, सूत्र–४०में चार प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है जिनकी आराधना साधु-साध्वी दोनों ही कर सकते हैं। अ तगड़सूत्र के आठवें वर्ग में सुकृष्णा आर्या द्वारा इन भिक्षु प्रतिमाओं की आराधना करने का वर्णन है। इन प्रतिमाओं में साध्वी भी स्वय अपनी गोचरी लाती है। जिसमें निधारित दिनों तक भिक्षा दत्ति की मर्यादा का पालन किया जाता है। इन प्रतिमाओं में निर्धारित दत्तियों से कम दत्तियाँ ग्रहण की जा सकती है या अनशन रूप तपस्या भी की जा सकत है। किन्तु किसी भी कारण से मर्यादा से अधिक दत्ति ग्रहण नहीं की जा सकती है। इन प्रतिमाओं में उपवास

आदि तप करना आवश्यक नहीं होता है, स्वाभाविक ही प्रायः सदा उणोदरी तप हो जाता है। बृहत्कल्प उ. ५ में साध्वी को अकेले गोचरी जाने का भी निषेध किया है। अतः इन प्रतिमाओं में स्वतन्त्र गोचरी लाने वाली साध्वी के साथ अन्य साध्वियों को रहना आवश्यक है, किन्तु गोचरी तो वह स्वय ही अपनी अकेली की करती है।

इन प्रतिमाओं को भी सूत्र में **'भिक्षु प्रतिमा'** शब्द से ही सूचित किया गया है। फिर भी इनको धारण करने में बारह भिक्षु प्रतिमाओं के समान विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता नहीं होती है। जब साध्वी भी गच्छ में रहते हुए स्वतन्त्र गोचरी एव अभिग्रह आदि कर सकती है तब गच्छ में रहते हुए साधुओं का स्वतन्त्र गोचरी एव अभिग्रह आदि करना स्वतः सिद्ध हो जाता है। अनेक आगमों में साधुओं के स्वतन्त्र गोचरी जाने के वर्णन भी मिलते हैं। अतः आज्ञा पूर्वक स्वतन्त्र गोचरी करना दूषण नहीं है अपितु विशिष्ट स यम उन्नति का गुण ही है, ऐसा समझना चाहिए। आजकल अलग गोचरी को एका त अवगुण की दृष्टि से देखा जाता है वह उचित नहीं है।

निबंध– ३७

पारिवारिक घरों में गोचरी गमन विवेक

व्यवहार सूत्र, उद्देशक–६, सूत्र–१ में यह बताया गया है कि पारिवारिक लोगों के घर में गोचरी के लिए प्रवेश करने के बाद कोई भी खाद्य–पदार्थ स्वाभाविक निष्पादित हो या चूल्हे पर से चावल-दाल या रोटी, दूध आदि कोई भी खाद्य पदार्थ स्वाभाविक हटाया जाए तो उसे नहीं लेना चाहिए। उस पदार्थ के हटाने में साधु का निमित्त हो या न हो, ज्ञात कुल में ऐसे पदार्थ अगाह्य हैं। वहाँ घर में प्रवेश करने के पहले ही जो पदार्थ निष्पन्न हो या चूल्हे पर से उतरा हुआ हो वही लेना चाहिए।

अपरिचित या अल्पपरिचित घरों में उक्त पदार्थ लेने का सूत्र में निषेध नहीं है। इसका कारण यह है कि अनुरागी ज्ञातिजन आदि भक्तिवश कभी साधु के निमित्त भी यह प्रवृत्ति कर सकते हैं जिससे

अग्निकाय की विराधना होना स भव है किन्तु अल्पपरिचित या अल्प अनुरागी घरों में उक्त दोष की स भावना नहीं रहती है। अतः उन कुलों में उक्त नियम की उपयोगिता नहीं है। इसीलिए यह विधान आगमों में अनेक स्थलों में केवल ज्ञातिजनों के कुल के साथ ही जोड़ा गया है। स्वतन्त्र रूप से एसणा के ४२ दोषों में नहीं कहा गया है।

निबंध– ३८

साधु-साध्वी के योग्य मकान की गवेषणा

निशीथसूत्र उद्देशक–५, सूत्र–३६ से ३८में सदोष शय्या उपाश्रय संबंधी प्रायश्चित्त विधान है। जिसमें (१) सूत्र ३६ में केवल जैन साधु के उद्देश्य से अथवा जैन साधु युक्त अनेक प्रकार के साधुओं या पथिकों के उद्देश्य से बनायी गयी धर्मशाला आदि 'उद्देशिक–शय्या' है। (२) सूत्र–३७ में गृहस्थ के अपने लिये बनाये जाने वाले मकान का या परिकर्म के कार्य का निर्धारित समय साधु के निमित्त से आगे-पीछे करने पर या शीघ्रता से करने पर अर्थात् अनेक दिन का कार्य एक दिन में करने पर, वह गृहस्थ का व्यक्तिगत मकान भी 'सपाहुड़ शय्या' हो जाती है। (३) सूत्र–३८ में मकान गृहस्थ के लिये बना हुआ है। उसमें साधु के लिये परिकर्म कार्य करने पर गृहस्थ के उपयोग में आने के पूर्व कुछ काल तक वह मकान 'सपरिकर्म शय्या' है। इन तीन प्रकार के दोषयुक्त शय्या में प्रवेश करने का अथवा रहने का लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा गया है।

दूसरे व तीसरे दोष वाली शय्या का मौलिक निर्माण गृहस्थ के स्वप्रयोजन से होता है और प्रथम दोष वाली शय्या में बनाने वालों का स्वप्रयोजन नहीं होकर केवल पर–प्रयोजन से उसका निर्माण किया जाता है, यह अन्तर ध्यान में रखना चाहिए।

वर्तमान में उपलब्ध उपाश्रयों की कल्प्याकल्प्यता :–

साधु-साध्वी के ठहरने के स्थान को आगम में 'शय्या, वसति एव उपाश्रय' कहा जाता है।

(१) कल्प्य– दोष रहित, पूर्ण शुद्ध, साधु-साध्वी के ठहरने योग्य।

(२) अकल्प्य– दोष युक्त, साधु-साध्वी के ठहरने के अयोग्य।

(३) कल्प्याकल्प– दोष युक्त होते हुए भी कालान्तर से या पुढषान्तरकृत होने पर ठहरने योग्य।

(१) कल्प्य उपाश्रय– (१) गृहस्थ या श्रावक के अपने लिये या सामाजिक उपयोग के लिये अथवा धार्मिक क्रियाओं की सामूहिक आराधना के लिये नये मकान का निर्माण करवाया जाता है।**(२)** अपना अतिरिक्त मकान धार्मिक आराधना के लिये अथवा साधु-साध्यिों के ठहरने के लिये स घ को समर्पित कर दिया जाता है। (३) बड़े–बड़े क्षेत्रों के समाज या स घ में मतभेद होने पर विभिन्न पक्षों के द्वारा भिन्न-भिन्न मकानों का निर्माण करवाया जाता है।(४) एक उपाश्रय होते हुए भी चातुर्मास आदि में भाई एव बहिनों के स्वतन्त्र पौषध, प्रतिक्रमण आदि करने के लिये दूसरे उपाश्रय की आवश्यकता प्रतीत होने पर नये मकान का निर्माण करवाया जाता है।(५) धार्मिक क्रियाओं की आराधना के लिये किसी का बना हुआ मकान खरीद लिया जाता है। इन मकानों में साधु-साध्वियों के निमित्त निर्माण कार्य आदि न होने से ये पूर्ण निर्दोष होते हैं ।

(२) अकल्प्य उपाश्रय– (१) कई ऐसे गाँव होते हैं जिनमें जैन गृहस्थों के केवल एक-दो घर होते हैं या एक भी घर नहीं होता है, वहाँ साधु-साध्वियों के ठहरने के लिये नये मकान का निर्माण किसी एक व्यक्ति द्वारा या कुछ सम्मिलित व्यक्तियों द्वारा करवाया जाता है एव उस मकान का कुछ भी नाम रख दिया जाता है ।(२) सन्त-सतियों के ठहरने के स्थान अलग-अलग होने चाहिए, ऐसा अनुभव होने पर दूसरे मकान का निर्माण करवाया जाता है ।(३) नये बसे गाँव या उपनगर में अथवा पुराने गाँव में धर्म भावना या प्रवृत्ति बढ़ने पर गृहस्थों की धार्मिक आराधनाओं के लिये और साधु-साध्वियों के ठहरने के लिये नये मकान का निर्माण करवाया जाता है ।(४) सतियों के ठहरने के लिये और बहिनों की धार्मिक प्रवृत्तियों के लिये भी नये मकान का निर्माण करवाया जाता है ।

इन मकानों के बनवाने में प्रमुख उद्देश्य साधु-साध्वियों का होने से औद्देशिक एव मौलिक निर्माण में मिश्रजात दोष होने के कारण ये पूर्णतः अकल्पनीय होते हैं ।

(३) कल्प्याकल्प्य उपाश्रय– (१) बड़े-बड़े स घों में अपने आयोजनों प्रयोजनों को लेकर नये मकान का निर्माण करवाया जाता है, साथ ही में स त-सतियों की अनुकूलता को भी लक्ष्य में रखा जाता है। (२) साधु-साध्वियों के लिये मकान खरीद लिया जाता है। (३) गृहस्थों एव साधु-साध्वियों के स युक्त उपयोग के लिये भी कहीं-कहीं मकान खरीद लिया जाता है। (४) निर्दोष मकान में भी साधु-साध्वियों के उद्देश्य से कई प्रकार के सुधार करवाये जाते हैं। (५) चातुर्मास के अवसर पर श्रोताओं की सुविधा के लिये, स घ की शोभा के लिये अथवा साधुओं के आवश्यक उपयोगों के निमित्त कुछ सुधार करवाये जाते है। (६) साधु-साध्वियों के उद्देश्य से सचित्त पदार्थ या अधिक वजन वाले अचित्त उपकरण स्थानान्तरित किये जाते हैं अथवा मकान की सफाई कर दी जाती है।

इन मकानों में सूक्ष्म उद्देश्य या अल्प आर भ अथवा परिकर्म कार्य होने से ये गृहस्थों के उपयोग में आने के बाद या कालान्तर से कल्पनीय हो जाते हैं।

आचा॰ श्रु॰–२, अ॰–५ एव ६ में साधु के लिये खरीदे गये वस्त्र-पात्र को गृहस्थ के उपयोग में आने के बाद या कालान्तर से कल्पनीय कहा गया है और अ॰–२, उ॰–१ में साधु के लिये किये गये अनेक प्रकार के आर भ एव परिकर्म युक्त मकान भी गृहस्थ के उपयोग में आने के बाद कल्पनीय कहे हैं, इत्यादि आगम प्रमाणों के आधार से ही यहाँ उक्त मकानों को कालान्तर से कल्पनीय होना बताया गया है ।

सार–(१) जिन मकानों के निर्माण एव परिकर्म में साधु-साध्वी का कोई भी निमित्त नहीं है, वे पूर्ण कल्पनीय होते हैं। (२) जिन मकानों के निर्माण का मुख्य उद्देश्य साधु-साध्वी का होता हैं, वे पूर्ण अकल्पनीय होते हैं। (३) जिन मकानों के निर्माण में साधु-साध्वियों का मुख्य लक्ष्य न होकर उनकी अनुकूलताओं का लक्ष्य रखा गया हो या उनके निमित्त सामान्य या विशेष परिकर्म(सुधार) आदि किये गये हो तो वे मकान अकल्पनीय होते हुए भी कालान्तर से या गृहस्थ के उपयोग में आ जाने से कल्पनीय हो जाते हैं ।***–आचा॰ श्रु॰–२, अ॰–२, उ॰–१ ।***

निबंध- ३९

आगम अनुसार पाट की गवेषणा

सदोष एव निर्दोष उपाश्रय के विकल्पों की जानकारी होने के साथ पाट सम्बन्धी विकल्पों की जानकारी होना भी आवश्यक है । क्यों कि कई उपाश्रयों में सोने बैठने के लिये पाट भी रहते हैं। उन पाटों के सम्बन्ध में भी तीन विकल्प होते हैं - १. निर्दोष, २. सदोष, ३. अव्यक्तदोष ।

(१) निर्दोष पाट- (१) कई प्रान्तों में प्रचलित परिपाटी के अनुसार गृहस्थों के घरों में, सामाजिक कार्यों के मकानों में, पाठशालाओं में तथा पुस्तकालयों आदि में आवश्यकतानुसार पाट बनाये जाते हैं। वे घरों में रखे हो अथवा उपाश्रय में भेंट दे दिये हों । (२) कई गाँवो में मकोड़े, बिच्छु आदि जीवों के उपद्रव के कारण श्रावक श्राविकाओं के दया, स वर, पौषध, आदि करते समय उपयोग में लेने के लिये कई पाट बनवाये जाते हैं। ये उक्त दोनों तरह के पाट पूर्ण शुद्ध है ।

(२) सदोष पाट- (१) सन्त-सतियों के बैठने या शयन करने के लिये अथवा व्याख्यान वाचते समये बैठने के लिये छोटे-बड़े पाट बनवाये जाते हैं। (२) कई जगह साधु और गृहस्थ दोनों के उपयोग में लेने के लिये पाट बनवाये जाते हैं। (३) बने हुए पाट साधु-साध्वियों के उद्देश्य से खरीदकर उपाश्रय में भेंट किये जाते हैं । ये तीनों साधु के उद्देश्य से खरीदे या बनाये गये पाट है, अतः सदोष है ।

(३) अव्यक्त दोष वाले पाट- (१) शादी आदि के विशेष अवसरों पर पाट बनवाकर भेंट दिये जाते हैं, उस समय उपाश्रय में आवश्यक है या नहीं इसका कोई विचार नहीं किया जाता है। (२) मेरा नाम उपाश्रयों में रहे इसके लिए पाट ही देना विशेष उपयुक्त है, ऐसे विचार से भी उपाश्रयों में पाट भेंट किये जाते हैं। ये निढद्देश्य या अव्यक्त उद्देश्य से बनाये गये पाट है।

आगम विमर्श- पाट आदि स स्तारकों के सम्बन्ध में औद्देशिकादि गुढतर दोषों का कथन करने वाले आगम पाठ नहीं मिलते हैं तथा किस

दोष वाला पाट कब तक अकल्प्य रहता है और कब कल्प्य हो जाता है, इस प्रकार के स्पष्ट कथन करने वाले पाठ भी उपलब्ध नहीं होते हैं।

आचा० श्रु०-२, अ०-२, उ०-३ में पाट से सम्बन्धित जो पाठ है उसका सार यह है कि साधु-साध्वी पाट ग्रहण करना चाहे तो उन्हें यह ध्यान रखना आवश्यक है- **१.** उसमें कहीं जीव-जन्तु तो नहीं है । **२.** गृहस्थ उसे पुनः स्वीकार कर लेगा या नहीं। **३.** अधिक भारी तो नहीं है। **४.** जीर्ण या अनुपयोगी तो नहीं है। इस प्रकार यदि वह पाट जीवरहित, प्रतिहारिक, हल्का एव स्थिर(मजबूत) है तो ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा नहीं लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पाट से सम्बन्धित दोषों का कथन आगमों में उपलब्ध नहीं है। पाट आदि के निर्माण में केवल परिकर्म कार्य ही किये जाते हैं। जो मकान के पुढषान्तरकृत कल्पनीय दोषों से अत्यल्प ही होते हैं अर्थात् इनके बनने में अग्नि, पृथ्वी आदि की विराधना नहीं होती है। अप्काय की विराधना भी प्रायः नहीं होती है। अतः आधाकर्मादि दोषों की इसमें सम्भावना नहीं है। इसलिए इनके बनाने में केवल परिकर्म दोष या क्रीतदोष ही होता है। क्रीत मकान या परिकर्म दोष युक्त मकान के कल्पनीय होने के समान ही इन उक्त दोनों विभाग के दोषों वाले पाटों को भी कालान्तर से अथवा गृहस्थ के उपयोग में आ जाने के बाद कल्पनीय समझ लेना चाहिए।

संप्रदायों संबंधी औद्देशिक दोष का विमर्श- जैन साधुओं के १. दिगम्बर २. श्वेताम्बर म दिरमार्गी ३. स्थानक वासी ४. तेरहप थी आदि रूप जो भेद है, उनमें से एक स घ के साधुओं के उद्देश्य से बना हुआ आहार या मकान दूसरे स घ के साधुओं के लिये औद्देशिक दोषयुक्त नहीं है। इस विषय का कथन मूल आगमों में नहीं है किन्तु प्राचीन व्याख्या ग्र थों में है। उसका आशय यह है कि जिनके सिद्धान्त और वेश समान हों वे प्रवचन एव लि ग(उभय) से साधार्मिक कहे जाते हैं। इस प्रकार के साधर्मिक साधु के लिये बना आहार मकान आदि दूसरे साधर्मिकों के लिये भी कल्पनीय नहीं होता है ।औद्देशिक या आधाकर्मी दोष वाला होता है ।

उपर्युक्त चारों जैन विभागों के वेश और सिद्धा तों में भेद पड़

गये हैं और प्रत्येक स घ ने एक दूसरे से सर्वथा भिन्न व स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया है। अतः उक्त एक जैन स घ का औद्देशिक मकान आदि दूसरे स घ वालों के लिये औद्देशिक नहीं है।

छोटे क्षेत्र के छोटे श्रावक समाज में सभी जैन स घों के मिश्रित भाव से निर्मित औद्देशिक शय्या आदि सभी स घों के साधुओं के लिये औद्देशिक दोषयुक्त ही समझना चाहिए। [*आचारांग सूत्र शय्या अध्ययन के आधार से*]

निबंध– ४०

रात्रि में अग्नि–पानी रहे मकान अकल्पनीय

जिस मकान में सारी रात या दिन-रात अग्नि जलती है उस (कुम्भकारशाला या लोहार शाला आदि) में भिक्षु को ठहरना नहीं कल्पता है। यदि ठहरने के स्थान में एवं गमनागमन के मार्ग में अग्नि नहीं जलती हो, किन्तु अन्यत्र कहीं भी(मकान के विभाग में) जलती हो, तो ठहरना कल्पता है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण रात्रि या दिन–रात जहाँ दीपक जलता है वह स्थान भी अकल्पनीय है।

अग्नि या दीपक युक्त स्थान में ठहरने के दोष :–

१. अग्नि के या दीपक के निकट से गमनागमन करने में अग्निकाय के जीवों की विराधना होती है। २. हवा से कोई उपकरण अग्नि में पड़कर जल सकता है। ३. दीपक के कारण आने वाले त्रस जीवों की विराधना होती है। ४. शीत निवारण करने का संकल्प उत्पन्न हो सकता हे। ***–भाष्य टीका।***

आचा. श्रु. २, अ. २, उ. ३ में भी अग्नियुक्त स्थान में ठहरने का निषेध है एवं निशीथ उ. १६ में इसका प्रायश्चित्त विधान है। इसे भी सर्व रात्रि की अपेक्षा ही समझना चाहिए।

इन आगमस्थलों में अल्पकालीन अग्नि या दीपक का निषेध नहीं किया गया है क्यों कि इसी सूत्र के प्रथम उद्देशक में पुढष सागारिक उपाश्रय में साधु को एवं स्त्री सागरिक उपाश्रय में साध्वी को ठहरने का विधान है। जहाँ अग्नि या दीपक जलने की सम्भावना

भी रहती है। अतः इन सूत्रों से सम्पूर्ण रात्रि अग्नि जलने वाले स्थानों का निषेध समझना चाहिए।

जिन स्थानों में पुढष या स्त्री किसी भी स्व पक्ष का निवास होगा वहाँ अग्नि और पानी तो रहेगा ही। क्यों कि वे पीने के लिए पानी रखेंगे एवं अन्य कार्य के लिए समय पर अग्नि और दीपक जलाएंगे। किन्तु उनका पीने का पानी अलग विभाग में रखा जावेगा एवं उनके दीपक और अग्नि भी अलग विभाग में होंगे अथवा अल्पकालीन होंगे सम्पूर्ण दिन रात जलने वाले नहीं होंगे।

भाष्यकार ने अग्नि और दीपक सम्बन्धी होने वाले जो दोष बताये हैं वे अधिकतर खुले दीपक में घटित होते हैं तथापि वर्तमान की बिजली में भी कुछ कुछ घटित होते हैं अर्थात् त्रस जीवों की विराधना एवं प्रकाश का उपयोग लेने के परिणाम या प्रवृत्ति होना उसमें भी सम्भव है।

निष्कर्ष यह है कि गृहस्थ की निश्रा वाले अलग विभाग में पानी रहे या अल्प समय के लिए कहीं पर भी अग्नि दीपक जले तो भिक्षु को ठहरने में बाधा नहीं है। किन्तु रात्रि भर अग्नि दीपक जले या साधु की निश्रा वाले विभाग में पानी दिन रात रहे तो वहाँ नहीं ठहरना चाहिए। अन्य स्थान के अभाव में १–२ रात्रि ठहरा जा सकता है। साधु के ठहरने के बाद गृहस्थों के अपनी सुविधा के लिए अल्पकालीन जल या दीपक (लाइट) की व्यवस्था की जाती हो तो उसकी कोई बाधा नहीं समझना चाहिए।

पानी के निषेध सूत्र में अचित जल का ही कथन है। तथापि सचित जल की विराधना सम्भव हो तो वहाँ भी नहीं ठहरना चाहिए।

सेल की घडियां उपाश्रय में रखी हों तो उसका इन सूत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् ऐसी घड़ी युक्त उपाश्रय में ठहरने में कोई बाधा नहीं है। क्यों कि उपर कहे गये भाष्योक्त कोई भी दोष या विराधना होने की स्थिति इसमें नहीं होती है।

निबंध– ४१

ऊपर की म जिल एव डोरी पर कपडे

निशीथ सूत्र, उद्देशक–१३, सूत्र–११में अ तरिक्षजात मकान में ठहरने का प्रायश्चित्त कहा है। म च, माल, मकान की छत आदि स्थलों की

ऊँचाई तो उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाती है, अतः अ तरिक्षजात का 'ऊँचे स्थान' ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए, किन्तु 'आकाशीय अनावृतस्थल' ऐसा अर्थ करना चाहिए अर्थात् सूत्र कथित ऊँचे स्थलों के चौतरफा भित्ति आदि न होकर खुला आकाश हो तो वे ऊँचे स्थल अ तरिक्षजात विशेषण वाले कहे जाते हैं। यही अर्थ आचा. श्रु.-२, अ.-२, उ.-१ के इस विषयक विस्तृत पाठ से भी स्पष्ट होता है । क्यों कि सूत्रगत ऊँचे स्थल यदि भित्ति आदि से चौतरफ आवृत्त हों तो गिरने आदि की आचारा ग में कही गई सम्भावनाएँ स गत नहीं हो सकती है। अनावृत्त ऊँचे स्थानों में ही सुखाए गये वस्त्र पात्र आदि के उड़ कर गिर जाने की सम्भावना रहती है एव उससे अयतना और प्रमाद की वृद्धि होती है । इसीलिए आगम में ऊँचे और अनावृत स्थान साधु को अनेक क्रियाएँ करने के लिए निषिद्ध है किन्तु आवृत स्थान में ऊँचे-नीचे किसी भी स्थान का विवेक पूर्वक उपयोग किया जा सकता है। उसमें सूत्रोक्त कोई भी दोष नहीं लगते हैं। क्यों कि पदार्थों का उड़ना, गिरना, पड़ना, भित्ति से अनावृत स्थानों में ही सम्भव हो सकता है। चौतरफ से आवृत या उपर से ढ़के अथवा ऊपर की म जिल के ब द कमरों में ऐसे कोई दोष स भव नहीं है। अतः सूत्र का सही आशय समझ कर ही प्ररूपणा एव प्रवृत्ति करनी चाहिए । प्रस्तुत सूत्र कथित प्रायश्चित्त भी ऊँचे और अनावृत(चौतरफ से बिना भित्ति वाले) स्थान पर सूत्र निर्दिष्ट कार्य करने पर ही आता है, ऐसा समझना चाहिए।

रस्सी पर कपड़े सुखाना– प्रस्तुत सूत्र में एव अन्य सूत्रों से चौतरफ से बिना ढ़के हुए छत आदि पर बैठने, रहने, पात्र वस्त्र आदि सुखाने का जो निषेध है, उसकी उचितता स्पष्ट है कि वहाँ से गिरने, पड़ने, दूर उड़ जाने की प्रायः सम्भावना रहती है। ऐसे ही ऊँचे स्थानों में रस्सी पर कपड़े सुखाना भी सूत्रोक्त दोषों से युक्त होता है किन्तु नीचे या ऊँचे चौतरफ से घिरे हुए अथवा सुरक्षित स्थान में रस्सी पर कपड़े सुखाने पर सूत्रोक्त दोषों की सम्भावना नहीं रहती है।

प्रश्न हो सकता है कि रस्सी पर कपड़े हवा से हिलते रहने से एव गिरने से वायुकाय की अयतना होती है। **समाधान** यह है कि रस्सी पर नहीं सुखाकर भूमि पर ही वस्त्र सुखाया जाय तो भी हवा से वह भी हिलता रहता है चारों तरफ पत्थर रख भी दिए जाय तो भी बीच में हिलता रहता

है। अधिक हवा होने पर भूमि पर सुखाए कपड़े भी इधर-उधर उड़ते रहते हैं। कम हवा हो तो ड़ोरी पर भी ज्यादा नहीं हिलते हैं। समझना यह है कि साधु का पहिना हुवा चद्दर, चोलपट्टा आदि वस्त्र चलने से स्वाभाविक जितना हिलता है काम करने एव बोलने से स्वाभाविक जो अ ग-उपाग हिलते हैं इस प्रकार के हिलने को वायु काय की अकल्पनीय अयतना नहीं कहा जा सकता है ।

अतः वस्त्र भूमि पर हो या रस्सी पर म द हवा से म द हिलना अकल्पनीय या अयतना नहीं है और अधिक हवा से अधिक हिलता है तो ऐसे समय और ऐसी हवा की जगह भूमि पर और रस्सी पर कहीं भी वस्त्र सुखाना ही अविवेक है। उस समय वस्त्र के वेग पूर्वक फटाफट करने की जो प्रवृत्ति होती है वह भूमि पर और रस्सी पर दोनों ही जगह सम्भावित है। कभी कभी भूमि पर अति रज हो तो उसे पूँज कर साफ करने में जितनी क्रिया करनी पड़ती है उतनी रस्सी में नहीं होती है तथा उस धूल से कपड़ा जितना जल्दी अधिक मैला होगा उतना ही जल्दी धोने का प्रमाद खड़ा होगा। वस्त्र धोने में भी हाथ और पानी का अत्यधिक हिलना और मन्थन होता है उसके सामने रस्सी पर सामान्यतया कपड़े का हिलना नगण्य(अल्प) है। अतः विवेक पूर्वक रस्सी पर कपड़ा सूखाना अकल्पनीय नहीं कहा जा सकता और अविवेक है तो भूमि पर सुखाना भी दोषप्रद होगा।

सार– विवेक एव अनुभव तथा हानि लाभ के चिंतन युक्त निर्णय से ही कोई भी प्रवृत्ति करना चाहिए। व्यवहारिक कोई भी प्रवृत्ति में एका तिक आग्रह हो तो वह अविवेक है।

निबंध– ४२

भिक्षु का नौका विहार एव वाहन उपयोग

निशीथ सूत्र, उद्देशक-१८, सूत्र-१ में तथा आगे अनेक सूत्रों से नौकाविहार संबंधी प्रायश्चित्त कहा है । चूँकि अप्काय के जीवों की विराधना का भिक्षु त्यागी होता है अतः उसे नौका विहार करना नहीं कल्पता है तथापि **आचारा ग, बृहत्कल्प तथा दशाश्रुतस्क ध आदि सूत्रो** में अपवादरूप विशेष प्रयोजनों से नौका द्वारा जाने का विधान है।

नौका विहार के कारण– सूत्रों में कहे गये नौका विहार करने का प्रमुख कारण तो कल्पमर्यादा पालन करने का है, साथ ही १. सेवा में जाना, २. भिक्षा दुर्लभ होने पर सुलभ भिक्षा वाले क्षेत्रों में जाना, ३. स्थल मार्ग जीवाकुल होने पर, ४. स्थल मार्ग अत्यधिक लम्बा होने पर(इसका अनुपात भाष्य से जानना), ५. स्थल मार्ग में चोर, अनार्य या हिंसक जन्तुओं का भय हो, ६. राजा आदि के द्वारा निषिद्ध क्षेत्र हो तो नौका द्वारा योग्य नदी को पार करने के लिये नाव में बैठना आगम विहित है अथवा इसे सप्रयोजन माना गया है। उनका इस सूत्र से प्रायश्चित्त नहीं आता है। किन्तु अप्काया(जल) आदि की होने वाली विराधना का प्रायश्चित्त बारहवें उद्देशक में कहे अनुसार समझ लेना चाहिए।

ठाणा ग सूत्र अ॰ ५ में वर्षाकाल में विहार करने के कुछ कारण कहे हैं उन कारणों से विहार करने पर कभी नौका द्वारा नदी आदि पार करना पड़े तो वह भी सकारण नौका विहार है, अतः उसका प्रस्तुत सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है। परंतु नाव देखने के लिये या नौका विहार की इच्छा पूर्ति के लिये ग्रामानुग्राम विचरण करने के लिए या तीर्थ स्थलों में भ्रमण करने हेतु अथवा अकारण या सामान्य कारण से नाव में बैठना, निष्प्रयोजन बैठना कहा जाता है उसी का इस प्रथम सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है।

प्रथम सूत्र के विवेचन मे बताये गये कारणों से जाना आवश्यक होने पर, नौकास तारिम जल युक्त मार्ग ही होने पर, अन्य कोई उपाय न होने से, नौका विहार का शास्त्रों में विधान है। इसके सिवाय यदि विहार करते हुए कभी मार्ग में ज घास तारिम जल हो तो उसे पार करने के लिए पैदल जाने की विधि आचा॰ श्रु॰-२, अ॰-३, उ॰-२ में बताई गई है।

ज घाबल क्षीण हो जाने पर या अन्य किसी शारीरिक कारण से विहार न हो सके तो भिक्षु एक स्थान पर स्थिरवास रह सकता है किन्तु उसे किसी भी प्रकार का वाहन विहार नहीं कल्पता है।

सूत्रोक्त नौका विहार का विधान प्रवचन प्रभावना के लिए भ्रमण करने हेतु नहीं हैं, क्यों कि निशीथ उ. १२ में तथा दशा॰ द॰२ में

महिने में दो बार और वर्ष में नव बार की ही छूट है जिसका केवल कल्प मर्यादा पालने हेतु नदी पार करने से सम्बन्ध है। इसके सिवाय प्रवचन प्रभावना के लिए पाद विहारी भिक्षु को वाहनों के प्रयोग का स कल्प करना भी स यम जीवन में अनुचित्त है।

अन्य वाहन का उपयोग– उत्सर्ग विधानों के अनुसार स यम साधना करने वाले भिक्षु को पाद विहार ही प्रशस्त है और अपवाद विधानों के अनुसार परिमित जल मार्ग को नौका द्वारा पार करने का आगम में विधान है अन्य वाहनों के उपयोग करने का निषेध प्रश्नव्याकरण श्रु॰ २, अ॰ ५ में है वहाँ हाथी, घोड़े, वाहन, रथ आदि यान तथा ड़ोली, पालकी आदि का भी निषेध है। विशेष परिस्थिति में इनके आपवादिक उपयोग का निर्णय गीतार्थ की निश्रा से विवेक पूर्वक करना चाहिए। यान-वाहन उपयोग करने के कारण अकारण का स्पष्टीकरण भी नावा प्रयोग के लिए कहे गये कारणों के समान समझ लेना चाहिए। **कल्प मर्यादा** का कारण इनमें नहीं होता है।

जीव विराधना की तुलना– विशेष कारण होने पर नौका द्वारा जल मार्ग पार करने में अप्कायिक जीवों की विराधना अधिक होती है और अन्यकायिक जीवों की विराधना अल्प होती है। सकारण अन्य वाहनों के उपयोग में वायुकायिक जीवों की विराधना अधिक तथा तेजस्कायिक जीवों की विराधना अल्प एव शेषकायिक जीवों की विराधना और भी अल्प होती है। इन जीव विराधनाओं का निशीथ सूत्र, उद्देशक-१२, सूत्र-८ के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

अपवाद का निर्णय एव प्रायश्चित्त– अपवादों के सेवन का उसके सेवन की सीमा का और प्रायश्चित्त का निर्धारण तो गीतार्थ ही करते हैं। आगमोक्त एव व्याख्या में कहे अपवादों के अतिरिक्त यानों का उपयोग करना अकारण उपयोग माना जाता है अतः उनके अकारण उपयोग का प्रायश्चित्त यहाँ प्रथम सूत्र के अनुसार समझना चाहिए एव सकारण वाहन उपयोग का प्रायश्चित्त नहीं आता है। यह भी इस प्रथम सूत्र से स्पष्ट होता है। किन्तु गवेषणा, विराधना आदि दोषों का प्रायश्चित्त सकारण या अकारण दोनों प्रकार के वाहन प्रयोग में

आता है, ऐसा इन सूत्रों का तात्पर्य समझना चाहिए।

नौका विहार सम्बन्धी विधि निषेध का तथा उपसर्गजन्य स्थिति का विस्तृत वर्णन आचारांग, श्रु॰ २, अ॰ ३, उद्दे॰-१,२ में स्वय सूत्रकार ने किया है। अतः तत्सम्बन्धी अर्थ विवेचना एव शब्दार्थ वहीं से जानना चाहिए। अन्य जानकारी के लिये निशीथ उद्देशक १२ तथा १८ एव बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्क ध का विवेचन देखना चाहिये।

निबंध- ४३

एषणा के ४२ दोष

उद्गम के १६ दोष :- (१) व्यक्तिगत किसी साधु के निमित्त अग्नि, जल आदि का आरंभ करके कोई वस्तु बनाना **आधाकर्म दोष** है ।

(२) साधुओं के किसी एक या अनेक समूह की अपेक्षा अग्नि, पानी आदि का आरंभ करके कोई वस्तु तैयार करना **औद्देशिक दोष** है ।

(३) प्रथम दोष (आधाकर्म) युक्त पदार्थ का लेप मात्र भी जिस किसी निर्दोष आहार में लग जाय तो वह आहार **पूतिकर्म दोष** वाला कहा जाता है ।

(४) गृहस्थ स्वयं के लिए एवं साधुओं के लिए अर्थात् दोनों के मिश्रित उद्देश्य से अग्नि पानी का आरंभ करके कोई वस्तु तैयार करे तो वह वस्तु **मिश्र जात** दोष वाली होती है ।

(५) अचित्त एवं निर्दोष वस्तु को लम्बे समय के लिए साधु के निमित्त स्थापित कर दे और अन्य किसी काम में नहीं ले या किसी को भी नहीं दे, केवल श्रमण के लिए देना निश्चित कर दे, तो वह वस्तु **ठवणा** स्थापना दोषयुक्त कही जाती है। यह घर की उपयोगी वस्तु की अपेक्षा है किन्तु घर के उच्छिष्ट फैंकने योग्य अचित जल को मुनियों के लिए संभाल कर रखा जाता है, उसे स्थापना दोष नहीं समझना चाहिए। वह तो श्रमणोपासक का विवेक कर्तव्य है ।

(६) कोई भी वस्तु गृहस्थ के लिए बनने वाली है उसके समय में मुनि के निमित्त परिवर्तन करे अर्थात् सहज बनने के समय से कुछ पहले बनावे

या कुछ देर से बनावे तो यह पाहुडिया-प्राभृतिक दोष कहलाता है।

(७) अग्नि या दीपक जलाकर प्रकाश करके देना यह **पाओअर दोष** है।

(८) साधु के निमित्त से कोई भी वस्तु खरीदे तो यह **क्रीत दोष** है।

(९) साधु के लिए किसी से कोई वस्तु उधार लाकर रखना यह **प्रामृत्य दोष** है ।

(१०) साधु के लिये एक वस्तु दूसरी वस्तु से अदल-बदल करना यह **परिवर्तन दोष** है ।

(११) साधु के निमित्त कोई भी वस्तु कहीं दूर जाकर के लाना या घर से उपाश्रय में लाना, दुकान से घर में लाना, ग्रामांतर से लाना यह **अभिहड दोष** है अर्थात् साधु के लिए विशेष गमनागमन करके लाई गई वस्तु **अभिहड दोष** वाली होती है । घर में तीन कमरे जितनी दूरी से कोई भी वस्तु लाकर देना अभिहड दोष नहीं है अथवा स्वयं के लिए कोई गमनागमन करे उसमें ही साधु के लिए किसी कल्पनीय पदार्थ को ले आवे, तो यह **अभिहड दोष** नहीं है ।

(१२) ढ़क्कन खोलने में या सील तोड़ने में यदि जीव विराधना हो तो उसे खोल कर देना **उद्भिन्न दोष** है ।

(१३) गिरने पड़ने की संभावना से युक्त निसरणी आदि लगाकर ऊँचे या नीचे से कोई वस्तु लाकर देना **मालोहड दोष** है ।

(१४) कोई किसी से जबरन छीन कर या अनिच्छा से किसी की वस्तु लेकर साधु को दे तो यह **आछिन्न दोष** है ।

(१५) जिसकी वस्तु है उसको पूछे बिना ही कोई लेकर के देवे तो **अनिसृष्ट दोष** है अर्थात् यह अदत्त दोष है।

(१६) गृहस्थ के लिए अग्नि आदि के आरंभ से निष्पन्न होने वाली वस्तु में साधु के निमित्त कुछ मात्रा अधिक कर देना, बढ़ा देना, यह **अध्यवपूर्वक दोष** है ।

उत्पादन के १६ दोष :- (१) बच्चों की रखवाली संभाल करके आहार प्राप्त करना **धातृपिंड दोष** है ।

(२) संदेशवाहक का काम करके आहार प्राप्त करना **दूतीपिंड दोष** है।

(३) निमित्त बताकर आहार प्राप्त करना **निमित्त पिंड दोष** है ।

(४) अपना परिचय एवं गुण बताकर आहार प्राप्त करना **आजीविक पिंड दोष** है ।

(५) दान का फल कहते हुए, दाता को आशीर्वचन कहते हुए भिखारी की तरह दीनता करके आहार प्राप्त करना **वनीपक पिंड दोष** है ।

(६) औषध उपचार बताकर आहार प्राप्त करना **चिकित्सा पिंड दोष** है ।

(७) कुपित होकर अथवा कुपित होने का भय दिखाकर आहार प्राप्त करना **क्रोध पिंड दोष** है ।

(८) भिक्षा न देने पर घमंडपूर्वक कहना **मैं भिक्षा लेकर रहूँगा** । फिर बुद्धि प्रयोग द्वारा घर के अन्य सदस्य से भिक्षा प्राप्त करना **मान पिंड दोष** है ।

(९) रूप वेश बदल-बदल कर छलपूर्वक भिक्षा प्राप्त करना **माया पिंड दोष** है ।

(१०) इच्छित वस्तु मिलने पर विवेक न रखते हुए अतिमात्रा में लेना । इच्छित वस्तु नहीं मिले वहाँ तक घूमते रहना, अन्य कल्पनीय वस्तु भी नहीं लेना **लोभ पिंड दोष** है ।

(११) दाता के गुणग्राम प्रशंसा करके आहार प्राप्त करना या आहार लेने के बाद गुणानुवाद करना **पूर्व पश्चात् संस्तव दोष** है ।

(१२) विशिष्ट साधना विधि से प्राप्त हुई विद्या के निमित्त से आहार प्राप्त करना **विद्या पिंड दोष** है ।

(१३) जाप करने से सिद्ध मंत्र के निमित्त से आहार प्राप्त करना **मंत्र पिंड दोष** है ।

(१४) वशीकरण आदि चूर्ण के निमित्त से आहार प्राप्त करना **चूर्ण पिंड दोष** है ।

(१५) पादलेप, अंजन प्रयोग, अंतर्धान क्रिया आदि के निमित्त से आहार प्राप्त करना **जोगपिंड दोष** है।

(१६) गर्भपात आदि पाप कृत्य सूचित कर आहार प्राप्त करना **मूलकर्म दोष** है ।

एषणा के दस दोष :- (१) देय अचित्त वस्तु संघट्टा आदि के कारण कल्पनीय है या अकल्पनीय है ऐसी सशंक अवस्था में साधु का लेना या दाता का देना **शंकित दोष** है ।

(२) पानी से गीले हाथ चम्मच आदि से आहार देना या लेना **मृक्षित दोष** है ।

(३) अचित्त देय वस्तु सचित्त पर रखी हो या सचित्त के निकट अनंतर संघट्टे में रखी हो वह लेना या देना **निक्षिप्त दोष** है ।

(४) अचित्त देय वस्तु के ऊपर सचित्त वस्तु रखी हो उसे हटा कर देना या लेना **पिहित दोष** है ।

(५) किसी बर्तन से सचित्त वस्तु खाली करके उससे आहार देना या लेना **साहरित दोष** है ।

(६) बालक, अंधे व्यक्ति एवं गर्भवती स्त्री या विराधना करते हुए देने वाले व्यक्ति से आहार लेना और उसका देना **दायक दोष** है ।

(७) कुछ सचित्त हो और कुछ अचित्त हो ऐसे मिश्र पदार्थ लेना या देना **मिश्र दोष** है ।

(८) शस्त्र परिणत हुए बिना ही या पूर्ण शस्त्र परिणत हुए बिना ही फल, मेवे, पानी आदि पदार्थ लेना या देना **अपरिणत दोष** है ।

(९) सचित्त नमक, पृथ्वी खार, मिट्टी आदि या वनस्पति के सचित्त चूर्ण, चटनी या टुकड़े आदि से लिप्त हाथ या चम्मच से आहार लेना या देना **लिप्त दोष** है ।

(१०) आहार या पानी को भूमि पर गिराते हुए देवे उसे ग्रहण करे तो यह **छर्दित दोष** है ।

श्रमणों एवं श्रावकों को इन दोषों का ज्ञान एवं विवेक रखना आवश्यक होता है ।

श्रावक के बारहवें व्रत संबंधी घर का विवेक ज्ञान :-

(१) घर में खाना बनने का एवं खाने का स्वभाविक ही सही समय होना चाहिए ।

(२) घर में निपजने वाले या रहने वाले अचित्त खाद्य पदार्थ सही योग्य स्थान पर ही रखने चाहिए ।

(३) सचित्त अचित्त वस्तुओं के रखने की व्यवस्था घर में अलग-अलग होनी चाहिए ।

(४) भोजन गृह में या देय वस्तु के कक्ष में सचित्त वस्तुएँ अस्त–व्यस्त नहीं रखनी चाहिए ।

(५) घर के कक्षों में, गमनागमन के मार्ग में, सचित्त पदार्थों को नहीं

बिखरने का विवेक होना चाहिए । बच्चों को एवं घर के प्रत्येक सदस्य को, इस प्रकार के संस्कार देने चाहिए ।

(६) रसोई घर में उपयोग में आने वाला सचित्त जल विवेक से योग्य स्थान में रखना चाहिए ।

(७) हरी सब्जी काटने, सुधारने आदि के लिए मार्ग में न बैठ कर एक तरफ बैठना चाहिए ।

(८) कोई भी सचित्त पदार्थ, सचित्त कचरा घर में बिखर जाय तो उसे साफ सफाई करने में आलस्य व लापरवाही नहीं करनी चाहिए ।

(९) घर का मुख्य दरवाजा भिक्षा के समय अंदर से बंद नहीं रखना चाहिए ।

(१०) घर के छोटे-बड़े सभी सदस्यों को भिक्षा सम्बन्धी सुसंस्कारों से भावित एवं अभ्यस्त करते रहना चाहिए ।

(११) भिखारी आदि को घर के आगे अधिक समय तक खड़ा नहीं रहना पड़े ऐसा विवेक रखना चाहिए ।

(१२) अग्नि, चूल्हे आदि पर निष्पन्न भोजन जैसे-साग, रोटी, दूध आदि को सचित्त पर या सचित्त के संघट्टे में न रख कर योग्य स्थान पर रखना चाहिए ।

(१३) दिन भर बीड़ीऐं पीना, पान खाते रहना, सचित्त पदार्थ खाते रहना या भोजन करते समय सचित्त पदार्थ खाना या संघट्टे में रख कर बैठना, अविवेक प्रवृत्तिएँ हैं, ऐसी आदतें छोड़नी चाहिए अन्यथा सुपात्र दान का अवसर प्राप्त होने पर भी लाभ से वंचित रहना पड़ता है ।

(१४) निःस्वार्थ भक्ति भाव से एवं निर्जरा के लिए, घमंड-कपट का त्याग करके, विवेक पूर्वक शुद्ध-सरल भावों से दान देना चाहिए।

(१५) अन्य भी अनेक दोष एवं विवेक हैं जिनकी जानकारी दशवैकालिक सूत्र, आचारांग सूत्र एवं आवश्यक सूत्र आदि के भावार्थ से जान लेनी चाहिए ।

नोट :- इन विधि नियमों का चार्ट घर में योग्य स्थान पर लगाकर रखना चाहिये ।

३२ सूत्रों के श्लोक प्रमाण एवं उपधान-तप

क्रमांक	आगम नाम	श्लोक	उपधान तप
(१)	आचारांग सूत्र	२५००	५०
(२)	सूयगडांग सूत्र	२१००	३०
(३)	ठाणांग सूत्र	३७७०	१८
(४)	समवायांग सूत्र	१६६७	३
(५)	भगवती सूत्र	१५७५२	१८६
(६)	ज्ञाताधर्मकथा सूत्र	५५००	३३
(७)	उपासकदशा सूत्र	८१२	१४
(८)	अंतगडदशा सूत्र	९००	१२
(९)	अनुत्तरोपपातिक सूत्र	२९२	७
(१०)	प्रश्नव्याकरण सूत्र	१२५०	१४
(११)	विपाक सूत्र	१२१६	२४
(१२)	उववाई सूत्र	१२००	३
(१३)	रायप्पसेणीय सूत्र	२०७८	३
(१४)	जीवाभिगम सूत्र	४७००	३
(१५)	पन्नवणा सूत्र	७७८७	३८
(१६)	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र	४१४६	१०
(१७-१८)	चन्द्र-सूर्य प्रज्ञप्ति सूत्र	२२००	३
(१९-२३)	उपांग सूत्र (निरयावलिकादि)	११०९	७
(२४)	निशीथ सूत्र	१४१५	१०
(२५)	दशाश्रुतस्कंध सूत्र	७५०	
(२६)	बृहत्कल्प सूत्र	४७३	२०
(२७)	व्यवहार सूत्र	८३५	
(२८)	उत्तराध्ययन सूत्र	२०००	२९
(२९)	दशवैकालिक सूत्र	७००	१५
(३०)	नंदी सूत्र	७००	३
(३१)	अनुयोग द्वार सूत्र	१८९९	१०
(३२)	आवश्यक सूत्र	१२५	८
	योग-	**६८३७९**	**५५३**

ज्ञातव्य :- यह बत्तीस सूत्रों के मूल पाठ का परिमाण बताया गया है अर्थात् ३२ अक्षरों का एक श्लोक होता है और आचारांग सूत्र का मूल पाठ ऐसे २५०० श्लोक जितना है । इसी प्रकार सभी सूत्रों का श्लोक परिमाण कहा गया है ।

यह परिमाण किसी समय माप करके आंका गया है । इसमें काल क्रम से कुछ हीनाधिक होना भी संभव है । पाठों को संक्षिप्त या विस्तृत करने के कारण से भी फर्क हो सकता है । अत: जहाँ उस सूत्र का श्लोक परिमाण बताया जाय वहाँ ऐसा सूचित करना चाहिये कि, इतने श्लोक परिमाण **यह सूत्र माना जाता है** । इसके अतिरिक्त किसी को किसी भी संख्या में विश्वास न जमे(कन्फयुझन लगे) तो अक्षर गिन कर ३२ अक्षर का एक श्लोक समझ कर स्वयं श्लोक संख्या का निर्णय-निर्धारण कर लेना चाहिये।

उपधान :- प्रत्येक सूत्र के गुढगम वाचनी के साथ या बाद में कुछ तप करना आवश्यक होता है। क्यों कि ज्ञान की आराधना में उपधान करना आवश्यक माना गया है । आगमों में साधु और श्रावक दोनों के श्रुत अध्ययन और उसके उपधान का विधान वर्णन आता है । प्रमाण के लिये देखें नंदी सूत्र ।

यह जो उपधान तप की संख्या बताई गई है वह आयंबिल करने की संख्या है । यदि उपवास करना हो तो २ आयंबिल = एक उपवास होता है ।

नोट :- उक्त श्लोक परिमाण एवं उपधान संख्या में कई मतांतर प्राप्त होते हैं । कुछ परिश्रम करके अभिधान राजेन्द्र कोश आदि देखकर तथा कहीं जाँचकर के भी शुद्ध संख्या देने का लक्ष्य रखा गया है ।

धर्म के चार वाद और उनका समाधान संक्षेप में :- भूमण्डल में चार प्रमुख धर्मवाद है- क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद ।ये चारों एकान्वाद होने से मिथ्या है । वास्तव में अनादि परिचित अभ्यस्त पाप त्याग के लिए धर्म **क्रिया** आवश्यक है, पूर्ण आश्रव रहित होने के लिए अन्त में योगों से **अक्रिय** भी होना आवश्यक है, **विनय** तो साधना का प्राण भूत आवश्यक गुण है अत: ये तीनों सापेक्ष हैं । **अज्ञानवाद** तो अन्धों के अन्धे खिवैया होने के समान होने से त्याज्य है अत: तीनो एकांतवादो से बचकर सापेक्ष स्याद्वादमय सिद्धांत की आस्था रखे ।

निबंध- ४४

संयम तप का हेतु कैसा हो

धर्म का कोई भी आचरण किया जाय उसका हेतु शुद्ध होना आवश्यक है । इसे तीन विभागों से समझना चाहिए १. धर्म के आचरण २. अशुद्ध हेतु ३. शुद्ध हेतु ।

(१) धर्म के आचरण :- १. नमस्कार मंत्र की माला फेरना, २. आनुपूर्वी गिनना, ३. प्रत्येक कार्य में नमस्कार मंत्र गिनना, ४. मुनियों के दर्शन करना, ५. मंगलिक सुनना, ६. भजन कीर्तन करना, ७. व्रत प्रत्याख्यानादि धर्म प्रवृति करना । ८. तपस्या करना ।

(२) अशुद्ध हेतु :- इहलौकिक धन, सुख, समृद्धि, पुत्र आदि की प्राप्ति, कार्य सिद्धि, इच्छा पूर्ति, पौद्‌गलिक सुख प्राप्ति, आपत्ति-शंकट विनाश आदि के हेतु, धर्म की प्रवृत्ति में अशुद्ध हेतु हैं । यश, कीर्ति, शोभा की प्राप्ति का उद्देश्य भी अशुद्ध हेतु है ।

(३) शुद्ध हेतु :- कर्मो की निर्जरा के लिए, कुछ समय धर्म भाव में एवं धर्माचरण में व्यतीत हो इसलिए, पापकार्य कम हो, पाप के कार्यों के पूर्व में भी धर्म भाव संस्कारों की जागृति हो इसलिए, भगवदाज्ञा की आराधना के लिये, चित्त समाधि एवं आत्मानंद की प्राप्ति के लिए, इत्यादि ये शुद्ध हेतु है ।

सार :- धर्म की कोई भी प्रवृत्ति में इहलौकिक चाहना किंचित भी नहीं होनी चाहिए, एकांत निर्जरा भाव, आत्म उन्नति और मोक्ष प्राप्ति का हेतु होना चाहिए ।

ऐहिक चाहना युक्त कोई भी प्रवृति है, चाहे वह माला फेरना है या व्रत है या तप है उसे धर्माचरण नहीं समझ कर संसार भाव की लौकिक प्रवृति समझनी चाहिए । वह आत्मा की उन्नति में एक कदम भी नहीं बढने देने वाली है ।

भगवदाज्ञा की आराधना और कर्म मोक्ष के शुद्ध लक्ष्य वाला धर्माचरण ही धार्मिक प्रवृति है ।ऐसा समझना चाहिए ।

धार्मिक प्रवृतियों के साथ लौकिक ढचि की प्रवृतियों को मिश्रित

कर देना भी धार्मिक प्रवृति को लौकिक प्रवृति बना देना मानना चाहिए । यथा– अठाई आदि विभिन्न तपस्याओं के साथ आडंबर, दिखावा, श्रृंगार एवं आरम्भ समारंभ की प्रवृतियों को जोड़कर उसे विकृत कर देना भगवदाज्ञा के बाहर है, विपरीत है, ऐसा समझना चाहिए ।

अतः धार्मिक किसी भी प्रवृति में लौकिक ढचिएँ, लौकिक प्रवृतिएँ नहीं मिलानी चाहिए । यथा– मेंहदी लगाना, वस्त्राभूषण वृद्धि करना, बेंड बाजे आदि । तात्पर्य यह है कि धार्मिक प्रवृति को समस्त लौकिक प्रवृतियों से पूर्ण मुक्त रखना चाहिए और लौकिक ढचि से की जाने वाली प्रवृति को धर्म न समझ कर केवल सांसारिक या लौकिक प्रवृति ही समझना चाहिए ।

हेतु शुद्धि के लिए प्रत्येक प्रवृत्ति में अंतर्मन को ज्ञान चेतना से जागृत रख कर सही चिंतन जमा लेना चाहिए । और अशुद्ध चिंतनों को विवेक के साथ दूर कर शुद्ध में परिवर्तित कर देना चाहिए ।

निबंध– ४५

रात्रि भोजन

रात्रि भोजन करने से प्राणातिपात आदि मूलगुणों की विराधना होती है तथा छठा रात्रि भोजन विरमण व्रत भी मूलगुण है, उसका भंग होता है । रात्रि में कुंथुए आदि सूक्ष्म प्राणी तथा फूलण आदि का शोधन होना अशक्य होता है । रात्रि में आहार की गवेषणा करने में एषणा समिति का पालन भी नहीं होता है । **चूर्णिकार ने कहा है–** "जो प्रत्यक्ष ज्ञानी होते हैं वे आहारादि को विशुद्ध जानते हुए भी रात्रि में नहीं खाते, क्यों कि मूलगुण का भंग होता है । तीर्थंकर, गणधर और आचार्यों से यह रात्रि भोजन अनासेवित है, इससे छट्ठे मूलगुण की विराधना होती है, अतः रात्रि भोजन नहीं करना चाहिए ।"

आगमों में रात्रि भोजन त्याग का वर्णन :–

१. दशवैकालिक सूत्र अ० ३ में– रात्रि भोजन निर्ग्रन्थ के लिये अनाचरणीय कहा गया है ।

२. दशवैकालिक अ. ६ में– रात्रि भोजन करने से निर्ग्रन्थ अवस्था से

भ्रष्ट होना कहा है तथा रात्रि भोजन के दोषों का स्पष्टीकरण किया है।

३. दशवैकालिक अ. ४ में– पाँच महाव्रत के साथ रात्रि भोजन विरमण को छट्ठा व्रत कहा है ।

४. दशवैकालिक अ. ८ में– सूर्यास्त से सूर्योदय तक अर्थात् रात्रि में आहार की मन से भी चाहना करने का निषेध है ।

५. उत्तराध्ययन अ. १९ गा. ३१ में– संयम की दुष्करता के वर्णन में चारों प्रकार के आहार का रात्रि में वर्जन करना अत्यंत दुष्कर कहा है ।

६. बृहत्कल्प उ. १ में– रात्रि या विकाल(संध्या) के समय चारों प्रकार के आहार ग्रहण करने का निषेध है ।

७. बृहत्कल्प उ. ५ में– कहा गया है कि आहार करते समय ज्ञात हो जाय कि– सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है तो मुंह में रखा हुआ आहार भी निकाल कर परठ देना चाहिये । और वहाँ पर उसे खाने का प्रायश्चित्त कहा है तथा रात्रि में आहार–पानी युक्त **उद्गाल** आ जाए तो उसे निगलने का भी प्रायश्चित्त कहा गया है।

८. दशा. द. २ तथा समवायांग स. २१ में– रात्रि भोजन करना "शबल दोष" कहा है ।

९. बृहत्कल्प उ. ४ में– रात्रि भोजन का अनुद्घातिक(गुढ) प्रायश्चित्त कहा है ।

१०. ठाणांग अ. ३ तथा अ. ५ में– रात्रि भोजन का अनुद्घातिक प्रायश्चित्त कहा है ।

११. सूयगडांग सूत्र श्रु. १ अ. २. उद्दे. ३ में– रात्रि भोजन त्याग सहित पाँच महाव्रत परम रत्न कहे गये हैं, जिन्हें साधु धारण करते हैं । इस प्रकार यहाँ महाव्रत के तुल्य रात्रि भोजन विरमण का महत्त्व कहा गया है ।

१२. सूयगडांग सूत्र अ.६ वीरस्तुति में– कहा गया है कि भगवान् महावीर स्वामी ने तप के लिए और दुःखों का नाश करने के लिए रात्रि भोजन का त्याग किया था ।

१३. उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३२ में– रात्रि भोजन के त्याग से जीव का आश्रव घटना एवं अनाश्रव होना कहा गया है ।

१४. निशीथ सूत्र उद्देशा ११ में– रात्रि भोजन करने का एवं उसकी प्रशंसा करने का गुढ चौमासी प्रायश्चित्त कहा है ।

१५. दशाश्रुतस्कंध सूत्र दशा ६ में– श्रावक को पाँचवी पडिमा धारण करने में रात्रि भोजन का पूर्ण त्याग करना आवश्यक कहा गया है । उसके पूर्व अवस्थाओं में भी श्रावक को रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिए किन्तु वहाँ तक ऐच्छिक है और पाँचवी प्रतिमा से लेकर ग्यारहवी प्रतिमा तक उसे रात्रि भोजन का त्याग करना आवश्यक हो जाता है ।

अन्य ग्रंथो में :–

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३८३ में– रात्रि भोजन त्याग को ६ महिने उपवास के तुल्य बताया है ।

२. महाभारत के शान्ति पर्व में– नरक में जाने के चार बोल कहे हैं जिनमें प्रथम बोल से रात्रि भोजन को नरक में जाने का कारण कहा है शेष तीन कारण नरक गमन के ये कहे हैं– १. पर स्त्री गमन, २. आचार अथाणा खाना, ३. कंद मूलभक्षण ।

३. वेद व्यास के योग शास्त्र अ. ३ में– कहा गया है कि रात्रि में खाने वाला मनुष्य–उल्लू कौआ, बिल्ली, गीदड़, सूकर, सर्प, बिच्छु आदि योनियों में जन्म धारण करता है ।

४. मनुस्मृति में– कहा है कि रात्रि राक्षसी होती है अतः रात्रि के समय श्राद्ध नहीं करना ।

५. योग शास्त्र अ. ३ में– कहा गया है कि– नित्य रात्रि भोजन त्याग करने से अग्निहोत्र का फल मिलता है एवं तीर्थ यात्रा का फल मिलता है । आहुति, स्नान, श्राद्ध, देवता पूजन, दान एवं भोजन ये रात्रि में नहीं किए जाते । कीट पतंग आदि अनेक सत्वों का घातक यह रात्रि भोजन अति निंदित है ।

६. मार्कंडेय मुनि ने तो रात्रि में पानी पीना खून के समान और खाना मांस के तुल्य कह दिया ।

७. बौद्ध मत के "मज्झमनिकाय" एवं "लकुटिकोपम सुत्त" में– रात्रि भोजन का निषेध किया है ।

८. हेमचन्द्राचार्य ने – दिन में और रात्रि में बिना कुछ रोक टोक के खाने वालों को बिना सिंग पूँछ वाला जानवर होना सूचित किया है।

जीवन शिक्षाएँ :–

१. रात्रि में कई छोटे बड़े जीव दिखते नहीं है वे खाने में आ जाय तो उससे कई प्रकार की बिमारियाँ हो जाती है ।

२. अनेक पक्षी भी रात्रि को नहीं खाते हैं, कहा भी है –

चिडी कमेडी कागला, रात चुगण नहीं जाय ।
नरदेहधारी जीव तूँ, रात पड्या क्यों खाय ॥

रात्रि में अन्धकार होता है । अन्धकार में यदि भोजन के साथ चींटी आ जाती है तो बुद्धि नष्ट हो जाती है । यदि मक्खी भोजन में आ जाती है तो शीघ्र वमन हो जाता है । यदि भोजन में जूं चली जाती है तो जलोदर जैसा भयंकर रोग पैदा हो जाता है । यदि छिपकली चली जाय तो कुष्ट जैसे महाव्याधि उत्पन्न हो जाती है । इसके अलावा उच्च रक्तचाप, दमा, हृदय रोग, पाचन शक्ति की खराबी आदि बिमारियों की सम्भावना बनी रहती है ।

सूर्यास्त के पूर्व भोजन करना पाचन की दृष्टि से सर्वोतम है। सोने के तीन घन्टे पूर्व भोजन करना आरोग्यदायक है । ऐसा करने से भोजन को पचने के लिए समय मिल जाता है । रात को ९–१० बजे भोजन करने वाला भोजन करके सो जाता है जिससे वह न तो जल बराबर पी सकता है और न उसका भोजन बारबर पच पाता है ।

सूर्य के प्रकाश की अपनी अलग ही विशेषता है । सूर्य प्रकाश में हीरे जवाहरात आदि का जो परीक्षण किया जा सकता है, वह विद्युत के प्रकाश में नहीं । सूर्य की रोशनी में कमल खिलते हैं । सूर्योदय होते ही प्राणवायु की मात्रा बढ़ जाती है । रात्रि में पाचन संस्थान भी बराबर कार्य नहीं करता । इसके अलावा कुछ सूक्ष्म जीव सूर्य की रोशनी में ही देखे जा सकते हैं, विद्युत के प्रकाश में नहीं ।

इन सब बातों का ध्यान रखते हुए विद्युत के प्रकाश को सूर्य के प्रकाश के समकक्ष नहीं समझना चाहिए । दोनों में महान अंतर है जो स्वतः सिद्ध है ।

इसलिए धर्मी पुढषों को एवं विशेषकर साधु साध्वियों को रात्रि भोजन का पूर्णतः त्याग करना चाहिए । परिस्थितिवश श्रावक हीनाधिक रूप में भी इसका अभ्यास करते हुए पूर्ण त्याग का लक्ष्य रखता है । अंत में एक स्टेज में उसे भी रात्रि भोजन त्याग करना आवश्यक हो जाता है ।

अतः गृह त्यागी को पूर्णतया और गृहस्थ को यथाशक्ति रात्रि भोजन का त्याग करके शरीर स्वास्थ्य लाभ एवं आत्मोन्नति लाभ प्राप्त करना चाहिए ।

निबंध– ४६

दंत मंजन का व्यवहार एवं आगम निष्ठा

संयम पालन करने के लिए शरीर का निरोग होना नीतान्त आवश्यक है । क्यों कि संयम जीवन में शरीर का रोगग्रस्त होना छिद्रों वाली नावा से समुद्र पार करने के समान है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्ययन में शरीर को नावा कहा है और जीव को नाविक कहा है । छिद्रों रहित नौका को संसार समुद्र पार करने के योग्य कहा है । शरीर रूपी नौका का सछिद्र होने का तात्पर्य है– उसका रोग ग्रस्त होना ।

मंजन करना स्वस्थ रहने का प्रमुख अंग माना जाता है । कहा भी है आँख में अंजन, दांत में मंजन, नित कर, नित कर, नित कर ।

दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में मंजन करना, दांत धोना साधु के लिए अनाचरणीय कहा है । अन्यत्र भी अनेक आगमों में मंजन नहीं करने को संयम के महत्त्व शील नियम रूप में सूचित किया गया है। यथा– ***जिस हेतु से साधक ने नग्नभाव यावत् अदंतधावन(दांत साफ नहीं करने की प्रतिज्ञा) को स्वीकार किया था उस हेतु को पूर्ण सिद्ध करके मोक्ष प्राप्त किया ।***

वर्तमान काल की खान-पान पद्धति एवं अशुद्ध खाद्य पदार्थों की उपलब्धि के कारण दंत रोग पायरिया, आदि की बिमारियाँ शीघ्र हो जाती है । ऐसी परिस्थिति में स्वास्थ्य की सुरक्षा हेतु कई संत सतियों ने दंत मंजन को आवश्यक समझ लिया है ।

ऐसी समझ एवं आचरण के पीछे आगम निष्ठा एवं आचार निष्ठा के परिणामों की शिथिलता के साथ साथ शुद्ध विवेक पूर्ण ज्ञान की अनभिज्ञता भी अवश्य होती है ।

इसका कारण यह है कि जैनागमों में सूचित साध्वाचार के नियम साधारण छद्मस्थों के द्वारा नहीं कहे गये है किन्तु वे नियम सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवंतों के अनुभव ज्ञान एवं केवल ज्ञान के प्रभाव से युक्त हैं । उस पर शुद्ध श्रद्धा एवं गहरे चिन्तन की आवश्यकता है । चिन्तन एवं अनुभव करने पर ज्ञात होता है कि ये अव्यवहारिक से लगने वाले आगम विधान भी महान वैज्ञानिक है । उनके मूल में शरीर स्वास्थ्य एवं संयम स्वास्थ्य दोनों का हेतु रहा हुआ है ।

श्रमणों को सदा भूख से कम खाने रूप उणोदरी तप करना आवश्यक है । मंजन नहीं करते हुए भी दांतों को स्वस्थ रखने के लिए कम खाना एवं यदा कदा उपवास आदि तप करना आवश्यक है ।

ब्रह्मचर्य पालन के लिए एवं इन्द्रिय निग्रह के लिए भी कम खाना और यदा कदा उपवासादि करना आवश्यक है । ब्रह्मचर्य की शुद्धि ही संयम की शुद्धि है ।

दिन में एक बार ही खाना या दिन भर नहीं खाना यह भी संयम एवं शरीर तथा दांतों के लिए अत्यावश्यक है । पाचन शक्ति एवं लीवर की स्वस्थता के लिए भी अल्प भोजन आवश्यक है । इस प्रकार अल्प भोजन, मंजन त्याग, ब्रह्मचर्य, संयम, स्वास्थ्य आदि एक दूसरे से संलग्न (जुड़े हुए) हैं ।

बेरोक–टोक के खाते रहना एवं केवल दांत शुद्धि के लिए मंजन कर लेना अपूर्ण विवेक है । ऐसा करने से पाचन शक्ति(लीवर) की खराबी और ब्रह्मचर्य की विकृति का ढकना संभव नहीं है ।अतः भिक्षु को बिना मंजन किये भी दांत निरोग रहे उतना ही आहार करने का अपना प्रमुख कर्तव्य समझना चाहिए ।सप्ताह में एक उपवास कर लेने पर दांतो की अत्यधिक सफाई स्वतः हो जाती हैं ।

आज के वैज्ञानिक भी मंजन किए बिना खाने को स्वास्थ्य के लिए उपयोगी मानने लग गये हैं ।

भोजन करने के बाद पात्र धोकर पानी पीने का आचार भी वैज्ञानिक है । ऐसा करने पर दांत स्वतः पानी से धुल जाते हैं और थूकने फेंकने की प्रवृत्ति साधु जीवन में नहीं बढती है ।

दंत रोग की आशंका से शंकित भिक्षुओं को मंजन करने की अपेक्षा निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए— (१) कम खाना, कम बार खाना और कम वस्तु खाना । मन के कहे न खाना, तन मांगे वह खाना । (२) खाने के तुरन्त बाद या कुछ समय बाद दांतों में पानी को हिलाते हुए एक दो घूँट पानी पीना चाहिए । (३) जब भी पानी पीया जाय अंत में पानी को दांतों में हिलाकर निगलना चाहिए । (४) महिने में २ या ४ उपवास आदि अवश्य करने चाहिए । (५) अरुचि हो या वायुनिसर्ग दुर्गन्ध युक्त हो तो भोजन छोड देना चाहिए । (६) दस्तें या उल्टिएं हो तो भोजन छोड देना चाहिए ।

इस प्रकार श्रद्धा और विवेक रखा जाय तो अदंत धावन (मंजन नहीं करने के) नियम का पालन करते हुए भी स्वस्थ रहा जा सकता है और ऐसा करने से ही सर्वज्ञों के आज्ञा की श्रद्धा एवं आराधना शुद्ध हो सकती है ।

स्नान नहीं करने आदि नियमों में भी अहिंसा, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय निग्रह, आत्म लक्ष्य, शरीर अलक्ष्य आदि हेतु है । साथ ही निर्वस्त्र, अल्प वस्त्र, ढीले वस्त्र पहनने का भी इससे सम्बन्ध है । विहार यात्रा, परिश्रमी एवं स्वावलंबी जीवन, अप्रमत्त चर्या आदि भी इसमें सम्बन्धित है । संयम के अन्य आवश्यक नियमों का ध्यान रखा जाय तो अस्नान एवं अदंत धावन नियम शरीर के स्वस्थ रहने में तनिक भी बाधक नहीं बन सकते ।

तात्पर्य यह है कि शरीर परिचर्या के निषेध करने वाले आगम नियमों का पालन करना हो तो खान-पान एवं जीवन व्यवहार के आगम विधानों का और व्यवहारिक विवेकों का पालन करना भी अत्यावश्यक समझना चाहिये तभी शरीर स्वास्थ्य एवं संयम शुद्धि तथा चित्त समाधि कायम रह सकती है। साथ ही अपनी क्षमता का खयाल रखने से सुन्दर आराधना हो सकती है ।

निबंध- ४७

ब्रह्मचर्य की जानो शुद्धि ।
उपनियमों में जिसकी बुद्धि ॥

(१) दूध, घृत मिष्ठान्न, मावा, मलाई, मक्खन आदि पौष्टिक पदार्थों का सेवन नहीं करना, बदाम पिस्ता आदि मेवे के पदार्थों का भी त्याग करना ।

(२) ये पदार्थ कभी आवश्यक हो तो अल्प मात्रा का ध्यान रखना और निरंतर अनेक दिन तक सेवन नहीं करना ।

(३) महिने में कम से कम चार दिन आयंबिल या उपवासादि तपस्या अवश्य करना ।

(४) सदा उणोदरी करना अर्थात् किसी भी समय पूर्ण भोजन नहीं करना ।

(५) शाम के समय भोजन नहीं करना या अत्यल्प आहार करना ।

(६) स्वास्थ्य अनुकूल हो तो एक बार से अधिक भोजन नहीं करना अन्यथा यथासंभव कम वखत खाना।

(७) एक बार के भोजन में भी खाद्य पदार्थों की संख्या बहुत कम होना ।

(८) भोजन में मिर्च मसालों की मात्रा अत्यल्प होना आचार अथाणा आदि का सेवन नहीं करना ।

(९) तले हुए खाद्य पदार्थों का सेवन नहीं करना ।

(१०) चूर्ण या खट्टे पदार्थों का सेवन नहीं करना ।

(११) रासायनिक औषधियों या उष्मा वर्धक औषधियों का सेवन नहीं करना । यथा संभव औषध का सेवन भी नहीं करना ।

(१२) महिने में कम से कम १५ दिन रूक्ष या सामान्य आहार करना अर्थात् धार विगय त्याग करना ।

(१३) स्त्रियों का निकट संपर्क या उनके मुख हाथ पाँव स्तन एवं वस्त्राभूषण आदि को देखने की प्रवृत्ति नहीं करना ।

(१४) दिन को नहीं सोना ।

(१५) भोजन के अनंतर संकुचित पेट रखकर नहीं बैठना एवं नहीं सोना ।

(१६) भिक्षु को विहार या भिक्षाचारी आदि श्रम कार्य अवश्य करना अथवा तपश्चर्या या खड़े-रहने की प्रवृत्ति रखना ।

(१७) उत्तराध्ययन सूत्र, आचारांग सूत्र, सूयगडांग सूत्र एवं दशवैकालिक सूत्र की स्वाध्याय वाचना अनुप्रेक्षा आदि करते रहना।

(१८) नियमित भक्तामर स्तोत्र या प्रभू भक्ति एवं आसन-प्राणायाम अवश्य करना ।

(१९) सोते समय और उठते समय कुछ आत्महित विचार-ध्यान अवश्य करना ।

(२०) क्रोध के प्रसंग उपस्थित होने पर मौन करना, आवेश युक्त बोलने की प्रवृत्ति का त्याग करना ।

(२१) यथासमय स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग अवश्य करना ।

ये सावधानियाँ रखना, गच्छगत और एकाकी विहारी सभी तढण भिक्षुओं के लिए अत्यन्त हितकर है । इन सावधानियों से युक्त जीवन बनाने पर संयम बाधक विकारोत्पत्ति होने की संभावना प्राय: नहीं रहती है ।

निबंध- ४८

१० कल्पों का स्वढप और विवेक

(बृहत्कल्प सूत्र, उद्दे.४, सूत्र-१८-१९)जो साधु आचेलक्य आदि दस प्रकार के कल्प में स्थित होते हैं और पँच याम रूप धर्म का पालन करते हैं ऐसे प्रथम और अ तिम तीर्थंकर के साधुओं को कल्पस्थित कहते हैं। जो आचेलक्यादि दस प्रकार के कल्प में स्थित नहीं है किन्तु कुछ ही कल्पों में स्थित हैं और चातुर्याम रूप धर्म का पालन करते हैं ऐसे मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के साधु अकल्पस्थित कहे जाते हैं।

दस कल्प(साधु के आचार) :-(१) अचेलकल्प- अमर्यादित वस्त्र न रखना किन्तु मर्यादित वस्त्र रखना। र गीन वस्त्र न रखना किन्तु स्वाभाविक र ग का अर्थात् सफेद र ग का वस्त्र रखना। मूल्यवान चमकीले वस्त्र न रखना किन्तु अल्प मूल्य के सामान्य वस्त्र रखना। **(२) औद्देशिक कल्प-** अन्य किसी भी

साधर्मिक या सा भोगिक साधुओं के उद्देश्य से बनाया गया आहार आदि औद्देशिक दोष वाला होता है। ऐसे आहार आदि को ग्रहण नहीं करना। **(३) शय्यातर पिंड़कल्प-** शय्यादाता(मकान मालिक) का आहारादि ग्रहण नहीं करना। **(४) राजपिंड़ कल्प-** मूर्धाभिषिक्त राजाओं का आहारादि नहीं लेना। **(५) कृतिकर्मकल्प-** रत्नाधिक को व दन आदि विनय-व्यवहार करना। **(६) व्रतकल्प-** पाँच महाव्रतों का पालन करना अथवा चार याम का पालन करना। चार याम में चौथे और पाँचवें महाव्रत का सम्मिलित नाम 'बहिद्धादाण ' है ।

(७) ज्येष्ठकल्प- जिसकी बड़ी दीक्षा(उपस्थापना) पहले हुई हो, वह ज्येष्ठ कहा जाता है साध्वियों के लिये सभी साधु ज्येष्ठ होते हैं। अतः उन्हें ज्येष्ठ मानकर व्यवहार करना। **(८) प्रतिक्रमण कल्प-** नित्य नियमित रूप से दैवसिक एव रात्रिक प्रतिक्रमण करना। **(९) मासकल्प-** हेम त-ग्रीष्म ऋतु में विचरण करते हुए किसी भी ग्रामादि में एक मास से अधिक नहीं ठहरना तथा एक मास ठहरने के बाद वहाँ दो मास तक पुनः आकर नहीं ठहरना। साध्वी के लिये एक मास के स्थान पर दो मास का कल्प समझना।

(१०) चातुर्मासकल्प- वर्षा ऋतु में चार मास तक एक ही ग्रामादि में स्थित रहना किन्तु विहार नहीं करना। चातुर्मास के बाद उस ग्राम में नहीं रहना। एव आठ मास(और बाद में चातुर्मास काल आ जाने से बारह मास) तक पुनः वहाँ आकार नहीं रहना। ये दस ही कल्प प्रथम एव अ तिम तीर्थंकर के साधु-साध्वियों को पालन करना आवश्यक होता है। मध्यम तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों को चार कल्प का पालन करना आवश्यक होता है, शेष छः कल्पों का पालन करना आवश्यक नहीं होता।

चार आवश्यक कल्प :- १. शय्यातरपि ड़कल्प, २. कृतिकर्मकल्प, ३. व्रतकल्प, ४. ज्येष्ठकल्प।

छः ऐच्छिक कल्पों का स्पष्टीकरण :- (१) अचेल- अल्प मूल्य या बहुमूल्य, स्वाभाविक, किसी भी प्रकार के वस्त्र अल्प या अधिक परिमाण में इच्छानुसार या मिले जैसे ही रखना। ***तथापि काले, पीले, लाल र ग के चद्दर, चोलपट्टे या मुहपत्ति नहीं रखते; सफेद वस्त्र ही रखते हैं किन्तु सफेद आसन आदि र गीन किनारी वाले हो तो रख सकते हैं, क्यों कि विभिन्न र ग के वस्त्र तो किसी भी धर्म मजहब के सन्यासी नहीं रखते। सभी के कोई न कोई ए क वेश भूषा, र ग निश्चित होता है । अत: जिनशासन में श्वेत वस्त्र की आवश्यकता तो समझना ही ।***

(२) **औद्देशिक**– स्वय के निमित्त बना हुआ आहारादि नहीं लेना किन्तु अन्य किसी भी साधर्मिक साधु के लिये बने आहारादि इच्छानुसार लेना। **(३) राजपि ड़**– मूर्धाभिषिक्त राजाओं का आहार ग्रहण करने में इच्छानुसार करना। (४) **प्रतिक्रमण**– नियमित प्रतिक्रमण इच्छा हो तो करना किन्तु पक्खी चातुर्मासिक और सा वत्सरिक प्रतिक्रमण अवश्य करना। (५) **मासकल्प**– किसी भी ग्रामादि में एक मास या उससे अधिक इच्छानुसार रहना या कभी भी वापिस वहाँ आकर ठहरना। (६) **चातुर्मास कल्प**– इच्छा हो तो चार मास एक जगह ठहरना या नहीं ठहरना किन्तु स वत्सरी के बाद कार्तिक सुदी पुनम तक ए क जगह ही रहना। उसके बाद इच्छा हो तो विहार करना, इच्छा न हो तो न करना।

ये छहों विधान मध्यम तीर्थंकरों के शासन में तथा महाविदेह में लागु होते हैं। भगवान महावीर स्वामी के शासन के साधुओं के लिये तो उपर वर्णित १० ही कल्प व्यवस्थित पालन करने होते हैं।

निबंध– ४९

पाँच व्यवहारों का ज्ञान एव विवेक

व्यवहारसूत्र, उद्देशक–१० में पाँच व्यवहारों का कथन एवं उनका क्रमिक महत्त्व स्थापित किया गया है, उसका **पक्षपात रहित** यथायोग्य पालन करने की प्रेरणा की गई है।

(१) **आगम व्यवहारी :–** ९ पूर्व से लेकर १४ पूर्व के ज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवल ज्ञानी ये 'आगम व्यवहारी' कहे जाते हैं। (२) **श्रुत व्यवहारी–** जघन्य आचारा ग एव निशीथ सूत्र मूल, अर्थ, परमार्थ सहित क ठस्थ धारण करने वाले और उत्कृष्ट ९ पूर्व से कम श्रुत धारण करने वाले 'श्रुत व्यवहारी' कहे जाते हैं। (३) **आज्ञा व्यवहारी–** किसी आगम व्यवहारी या श्रुत व्यवहारी की आज्ञा प्राप्त होने पर उस आज्ञा के आधार से प्रायश्चित्त देने वाला 'आज्ञा व्यवहारी' कहा जाता है। (४) **धारणा व्यवहारी–** बहुश्रुतों ने श्रुतानुसारी प्रायश्चित्त की कुछ मर्यादा किसी योग्य भिक्षु को धारण करा दी हो उनको अच्छी तरह धारण करने वाला 'धारणा व्यवहारी' कहा जाता है। (५) **जीत व्यवहारी–** जिन विषयों में कोई स्पष्ट सूत्र का आधार न हो उस विषय में बहुश्रुत भिक्षु सूत्र से अविरुद्ध और स यम पोषक प्रायश्चित्त की मर्यादाएँ किसी

योग्य भिक्षु को धारण करा दे उन्हें अच्छी तरह धारण करने वाला 'जीत व्यवहारी' कहा जाता है।

ज जीयमसोहिकर , पासत्थ पमत्त स जयाइण्ण ।
जइ वि महाजणाइण्ण , न तेण जीएण ववहारो ॥७२०॥
ज जीय सोहिकर , स वेगपरायणेन द तेण ।
एगेण वि आइन्न , तेण उ जीएण ववहारो ॥७२१॥–व्यव॰भाष्य

वैराग्यवान् एक भी दमितेन्द्रिय बहुश्रुत द्वारा जो सेवित हो वह जीत व्यवहार स यमशुद्धि करने वाला हो सकता है। किन्तु जो पार्श्वस्थ प्रमत्त एव अपवाद प्राप्त भिक्षु से आचीर्ण हो वह जीतव्यवहार अनेकों के द्वारा सेवित होने पर भी शुद्धि नहीं कर सकता है। अतः उस जीत व्यवहार से व्यवहार नहीं करना चाहिए।

सो जहकालादीण अपड़िक तस्स निव्विगईय तु ।
मुहण तगफिड़िय, पाणगअस वरेण, एवमादीसु ॥७०६॥व्य॰ भा॰॥

जो पच्चक्खाणकाल या स्वाध्यायकाल आदि का प्रतिक्रमण नहीं करता है, मुख पर मुखवस्त्रिका के बिना रहता है या बोलता है और पानी को नहीं ढ़ंकता है उसे नीवी का प्रायश्चित्त आता है, यह सब जीतव्यवहार है।

गाथा में आए **'मुहण तगफिड़िय'** की टीका– **मुख पोतिकाया स्फिटिताया , मुखपोतिकाम तरेणित्यर्थः ।** मुखवस्त्रिका को इधर उधर रखने वाला, मुख पर नहीं रखने वाला। इन पाँच व्यवहारियों द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त आगमव्यवहार यावत् जीतव्यवहार कहा जाता है।

इस सूत्र विधान का आशय यह है कि पहले कहा गया व्यवहार और व्यवहारी प्रमुख होता है। उसकी अनुपस्थिति में ही बाद में कहे गए व्यवहार और व्यवहारी को प्रमुखता दी जा सकती है। अर्थात् जिस विषय में श्रुत व्यवहार उपलब्ध हो उस विषय के निर्णय करने में धारणा या जीतव्यवहार को प्रमुख नहीं करना चाहिए। व्युत्क्रम से प्रमुखता देने में स्वार्थ भाव या राग, द्वेष आदि होते हैं, निष्पक्ष भाव नहीं रहता है। इसी आशय को सूचित करने के लिए सूत्र के अ तिम अ श में राग-द्वेष एव पक्षपात भाव से रहित होकर यथाक्रम से व्यवहार करने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही सूत्र निर्दिष्ट क्रम से एव निष्पक्ष भाव से व्यवहार करने वाले को आराधक कहा गया है। अतः पक्षभाव से एव व्युत्क्रम से व्यवहार करने वाला विराधक होता है, यह

स्पष्ट है। व्यवहार शब्द का विस्तृत अर्थ करने पर यह भी फलित होता है कि स यमी जीवन से सम्बन्धित किसी भी व्यवहारिक विषय का निर्णय करना हो या कोई भी आगम से प्रढपित तत्त्व के सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद की स्थिति का निर्णय करना हो तो इसी क्रम से करना चाहिए अर्थात् यदि आगम व्यवहारी हो तो उनके निर्णय को स्वीकार करके विवाद को समाप्त कर देना चाहिए।

यदि आगम व्यवहारी न हो तो उपलब्ध श्रुत-आगम के आधार से जो निर्णय हो उसे स्वीकार करना चाहिए। सूत्र का प्रमाण उपलब्ध होने पर आज्ञा, धारणा या परम्परा को प्रमुख नहीं मानना चाहिए। क्यों कि आज्ञा, धारणा या परम्परा की अपेक्षा श्रुत व्यवहार प्रमुख है। वर्तमान में सर्वोपरी प्रमुख स्थान आगमों का है, उसके बाद व्याख्याओं एव ग्रन्थों का स्थान है तत्पश्चात् स्थविरों द्वारा धारित क ठस्थ धारणा या परम्परा का है। व्याख्याओं या ग्रन्थों में भी पूर्व-पूर्व के आचार्यो की रचना का प्रमुख स्थान है।

अतः वर्तमान में सर्वप्रथम निर्णायक शास्त्र हैं उससे विपरीत अर्थ को कहने वाले व्याख्या और ग्रन्थ का महत्त्व नहीं होता है। उसी प्रकार शास्त्र प्रमाण के उपलब्ध होने पर धारणा या परम्परा का भी कोई महत्त्व नहीं है। इसलिए शास्त्र ग्रन्थ, धारणा और परम्परा को भी यथाक्रम विवेक पूर्वक प्रमुखता देकर किसी भी तत्त्व का निर्णय करना आराधना का हेतु है और किसी भी पक्षभाव के कारण व्युत्क्रम से निर्णय करना विराधना का हेतु है। अत: इस सूत्र के आशय को समझ कर निष्पक्ष भाव से आगम तत्वों का निर्णय करना चाहिए। भगवती सूत्र श०८,उद्दे०८ में तथा ठाणा ग अ०५ उ०२ में भी यह सूत्र है। सारा श यह है कि प्रायश्चित्तों का या अन्य तत्त्वों का निर्णय इन पाँच व्यवहारों द्वारा क्रमपूर्वक करना चाहिए, व्युत्क्रम से नहीं अर्थात् किसी विषय में आगम पाठ के होते हुए भी धारणा या परम्परा को प्रमुखता देकर आग्रह करना सर्वथा अनुचित समझना चाहिए।

एव जिस विषय में प्राचीन ग्रन्थों या व्याख्या ग्रन्थों का यदि प्रमाण हो जो आगम से अविढद्ध हो उसकी अपेक्षा धारणा या परम्परा या व्यक्तिगत गच्छों के निर्णय को प्रमुखता देना भी अनुचित ही समझना चाहिए। इसलिए जिस विषय में आगम प्रमाण या अन्य प्रबल प्रमाण उपलब्ध हो तो वहाँ परम्परा या धारणा का अथवा व्यक्तिगत निर्णयों का आग्रह नहीं करना चाहिए। कि तु स पूर्ण जैन समाज की एकता एव सुव्यवस्था के लिए

किसी ग्रन्थ या व्याख्याओं की बात को गौण भी करना पड़े तो उसमें कोई दोष नहीं समझना चाहिए बशर्ते कि वह निर्णय या वह निर्णित पद्धति आगम आज्ञा से विढद्ध न हो।

इस प्रकार स घ हितैषी ज्ञानी आत्माओं को निष्पक्ष भाव से विवेक पूर्वक आवश्यक तत्वों का निर्णय करना चाहिए यही इस पाँच व्यवहारों के सूत्र का प्रमुख आशय है ।

पाँच व्यवहारों का समझा मर्म । मिला उसे सच्चा जिन धर्म ॥

निबंध– ५०

स्थितकल्प आदि भेद एवं स्वरूप

भगवती सूत्र शतक–२५, उद्देशक–६ में कल्पद्वार से विधान है, उस कल्पों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

१. स्थित कल्प– इस कल्प में १० कल्पों का पूर्ण रूप से नियमत: पालन किया जाता है । **२. अस्थित कल्प**– इस कल्प में चार कल्पों का पूर्ण रूप से पालन किया जाता है और शेष ६ कल्पों का वैकल्पिक पालन होता है अर्थात् उनमें से किसी कल्प की कुछ अलग व्यवस्था होती है और किसी कल्प का पालन ऐच्छिक निर्णय पर होता है ।

३. स्थविर कल्प– इस कल्प में संयम के सभी छोटे-बड़े नियम–उपनियमों का उत्सर्ग रूप से (सामान्यतया) पूर्ण पालन किया जाता है और विशेष परिस्थिति में गीतार्थ–बहुश्रुत की स्वीकृती से अपवाद सेवन किया जा सकता है अर्थात् सकारण संयम मर्यादा से बाह्य आचरण करके उसका आगमोक्त प्रायश्चित्त लिया जाता है एवं परिस्थिति समाप्त होने पर पुन: शुद्ध संयम का पालन किया जाता है; ऐसे उत्सर्ग और अपवाद के वैकल्पिक आचरण वाला यह कल्प **स्थविर कल्प** है । इस कल्प में गीतार्थ बहुश्रुत की आज्ञा से शरीर एवं उपधि का परिकर्म भी किया जा सकता है । **४. जिन कल्प**– ''जिन'' का अर्थ होता है राग द्वेष के विजेता–वीतराग । अत: जिस कल्प में शरीर के प्रति पूर्ण वीतरागता के तुल्य आचरण होता है वह **जिनकल्प** कहा

जाता है । इस कल्प में संयम के नियम-उपनियमों में किसी प्रकार का अपवाद सेवन नहीं किया जाता है । इसके अतिरिक्त इस कल्प में शरीर एवं उपकरणों का किसी प्रकार का परिकर्म भी नहीं किया जा सकता है । अर्थात् निर्दोष औषध-उपचार करना, कपडे-धोना, सीना आदि भी नहीं किया जाता है । रोग आ जाय, पाँव में काँटा लग जाय, शरीर के किसी अंग में चोट लग जाय, खून बहे तो भी कोई उपचार नहीं किया जाता है । ऐसी शारीरिक वीतरागता जिसमें धारण की जाती है, वह 'जिन कल्प' है। **५. कल्पातीत**– जो शास्त्राज्ञाओं मर्यादाओं प्रतिबंधों से परे हो जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं । अपने ही ज्ञान और विवेक से आचरण करना जिनका धर्म हो जाता है । ऐसे पूर्ण योग्यता सम्पन्न साधकों का आचार 'कल्पातीत' (अर्थात् उक्त चारों कल्पों से मुक्त) कहा जाता है । तीर्थंकर एवं उपशांत वीतराग, क्षीण वीतराग(११-१२-१३-१४वें गुणस्थान वाले) आदि कल्पातीत होते हैं । तीर्थंकर भगवान के अतिरिक्त छद्मस्थ, मोहकर्म युक्त कोई भी साधक कल्पातीत नहीं होते हैं, आगम विहारी हो सकते हैं।

दस कल्पों का स्पष्टीकरण :– स्थितकल्प वालों को दस कल्पों का पालन आवश्यक होता है, वे इस प्रकार है–

(१) अचेल कल्प– मर्यादित एवं अल्प मूल्य वाले सफेद वस्त्र रखना तथा पात्र आदि अन्य उपकरण भी मर्यादित रखना अर्थात् जिस उपकरण की गणना और माप जो भी सूत्रों में बताया है उसका पालन करना और जिनका माप सूत्रों में स्पष्ट नहीं है, उनकी बहुश्रुतों के द्वारा निर्दिष्ट मर्यादानुसार पालन करना, यह **अचेलकल्प** है ।

(२) औद्देशिक– समुच्चय साधु समूह के निमित्त बनी वस्तु (आहार मकान आदि) औद्देशिक होती है । व्यक्तिगत निमित्त वाली वस्तु आधाकर्मी होती है । जिस कल्प में औद्देशिक का त्याग करना प्रत्येक साधक को आवश्यक होता है, वह **औद्देशिक** कल्प कहा जाता है ।

(३) राजपिंड– मुकुटबंध अन्य राजाओं द्वारा अभिषिक्त हो ऐसे बडे राजाओं के घर का आहार राजपिंड कहा जाता है तथा उनका अन्य भी अनेक प्रकार का राजपिंड निशीथ सूत्र आदि में बताया गया है, उसे ग्रहण नहीं करना, यह **राजपिंड** नामक तीसरा कल्प है ।

(४) शय्यातर पिंड– जिसके मकान में श्रमण-श्रमणी ठहरते हैं वह

शय्यातर कहलाता है । उसके घर का आहार, वस्त्र आदि शय्यातर पिंड कहलाते हैं, उन्हें ग्रहण नहीं करना **शय्यातर पिंड** कल्प है ।

(५) मासकल्प– श्रमण एक ग्रामादि में २९ दिन से ज्यादा न रहे और श्रमणी ५८ दिन से ज्यादा न रहे इसे **मासकल्प** कहते हैं ।

(६) चौमासकल्प– आषाढी पूनम से कार्तिक पूनम तक आगमोक्त कारण बिना विहार नहीं करना किन्तु एक ही जगह स्थिरता पूर्व रहना यह **चौमासकल्प** है ।

(७) व्रतकल्प– पाँच महाव्रत एवं छट्ठे रात्रि भोजन व्रत का पालन करना या चातुर्याम धर्म का पालन करना **व्रतकल्प** है ।

(८) प्रतिक्रमण– सुबह-शाम दोनों वक्त नियमित प्रतिक्रमण करना यह **प्रतिक्रमण** कल्प है ।

(९) कृति कर्म– दीक्षा पर्याय से वडील को प्रतिक्रमण आदि यथासमय वंदन करना **कृतिकर्म कल्प** है।

(१०) पुढष ज्येष्ठ कल्प– कोई भी श्रमण(पुढष) किसी भी श्रमणी (स्त्री) के लिये, ज्येष्ठ ही होता है अर्थात् वंदनीय ही होता है । अतः छोटे-बड़े सभी श्रमण, साध्वी के लिये बड़े ही माने जाते हैं और तदनुसार ही यथासमय विनय, वंदन-व्यवहार किया जाता है और साधु कोई भी दीक्षापर्याय वाला हो वह साध्वी को व्यवहार वंदन नहीं करता है यह **पुढष ज्येष्ठ** नामक दसवाँ कल्प है ।

ये १० कल्प, प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन में पालन करने आवश्यक है अर्थात् उन श्रमणों के ये उन्नत दसों नियम पूर्णरूपेण लागू होते हैं । शेष २२ मध्यम तीर्थंकरों के शासन में एवं महाविदेह क्षेत्र में ६ कल्प वैकल्पिक होते हैं, उनकी व्यवस्था इस प्रकार है–

१-अचेलकल्प :– स्वमति निर्णय अनुसार वस्त्र पात्र हीनाधिक मात्रा में अल्पमूल्य, बहुमूल्य जैसा भी समय पर मिले, लेना चाहे, ले सकते हैं। रंगीन लेने का कथन अयोग्य है अतः वैसा(रंगीन) अर्थ नहीं करना चाहिये, क्यों कि ऐसा करने में स्वलिंगता में अव्यवस्था होती है । अन्य धर्म में भी भगवा रंग आदि एक ही प्रकार के वस्त्र होते हैं ।

२- औद्देशिक :– अनेक साधु समूह के उद्देश्य से बना आहार व्यक्तिगत

कोई श्रमण लेना चाहे तो ले सकता है । यदि उसके लिये ही किसी ने बनाया हो वैसा आधाकर्मी नहीं ले सकता है ।

३– राजपिंड :– इच्छानुसार यथा प्रसंग ले सकते हैं ।

४– मासकल्प :– आवश्यक लगे तो २९ दिन से अधिक भी इच्छानुसार ठहर सकते हैं ।

५– चौमासकल्प :– आवश्यक लगे तो भादवा सुद ५ के पूर्व तक विहार कर सकते हैं । पंचमी के दिन से कार्तिक सुदी १५ तक विहार नहीं करना, इतने नियम का पालन करते हैं ।

६– प्रतिक्रमण :– आवश्यक लगे तो सुबह-शाम प्रतिक्रमण कर लेना और आवश्यक न लगे तो नहीं करना । किन्तु पक्खी,चौमासी,संवत्सरी के दिन शाम का प्रतिक्रमण अवश्य करना । इस प्रकार की व्यवस्था वाले ये ६ वैकल्पिक कल्प हैं । मध्यम तीर्थंकर के साधुओं का इस प्रकार वैकल्पिक– **अस्थित कल्प** कहा गया है और प्रथम-अंतिम तीर्थंकर के श्रमणों के इन दस ही कल्पों का पालन आवश्यक होना **स्थित कल्प** कहा गया है ।

अस्थित कल्प वालों के लिये चार आवश्यक करणीय कल्प ये हैं– **१. शय्यातर पिंड–** मकान मालिक का आहारादि नहीं लेना। **२. व्रत–** महाव्रत, चातुर्याम एवं अन्य व्रत नियम समिति गुप्ति अदि का आवश्यक रूप से पालन करना । **३. कृति कर्म–** दीक्षा पर्याय के क्रम से विनय, वंदन-व्यवहार करना आवश्यक होता है । **४. पुढष ज्येष्ठ–** श्रमणियों के लिये सभी श्रमणों को ज्येष्ठ पूजनीय मान कर विनय, वंदन-व्यवहार करना आवश्यक कल्प होता है । श्रमणों को भी पुढष ज्येष्ठ कल्प का ध्यान रखकर ही साध्विओं के साथ योग्य सन्मान समादर का व्यवहार करना होता है । व्यवहारिक वंदन नहीं किया जाता है । ये दशों कल्प यहाँ भगवती सूत्र में स्थित कल्प में समाविष्ट किये गये हैं ।मूलपाठ से १० कल्पों का संदेश-निर्देश सिद्ध होता है । व्याख्याओं से १० कल्पों का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है जो मूलपाठानुगामी विश्लेषण है । उसके बिना स्थितकल्प और अस्थितकल्प का भेद स्पष्ट नहीं हो सकता है ।अत: १० कल्प सूत्रानुगत एवं सूत्र संमत ही समझना चाहिये । विशेष आवश्यक भाष्य एवं टीका में भी इन दस कल्पों का विस्तृत वर्णन है ।

प्रश्न– पुढष ज्येष्ठ नामक चौथे कल्प की एकांतिकता उचित है क्या ?

उत्तर– यह आर्य संस्कृति का अनादि नियम है । भारतीय धर्म सिद्धान्तों में कहीं भी श्रमणियाँ श्रमणों के लिये वंदनीय नहीं कही गई है । अत: यह भारतीय संस्कृति का लौकिक व्यवहार है । इसी कारण इस नियम को मध्यम तीर्थंकरों के शासन में भी वैकल्पिक नहीं बताकर आवश्यकीय नियमों में बताया है । अत: पुढष ज्येष्ठ का व्यवहार करने का अनादि धर्म सिद्धांत ही लौकिक व्यवहार के अनुगत है । ऐसा ही सर्वज्ञों ने उपयुक्त देखा है । इसी सिद्धांत से लोक व्यवहार एवं व्यवस्था सुंदर ढंग से चली आ रही है । इस आगमिक सिद्धांत का मतलब यह नहीं है कि साध्वी संघ का आदर नहीं होता है ।

आगमानुसार श्रमण-निर्गंथ गृहस्थों की किसी प्रकार की सेवा नहीं कर सकते किन्तु श्रमणी की आवश्यकीय स्थिति में वह हर सेवा के लिये तत्पर रहता है । **वह सेवा–** "गोचरी लाना, संरक्षण करना, उठाकर अन्यत्र पहुँचा देना, कहीं गिरते, पड़ते घबराते वक्त सहारा देना या पानी में साध्वी बहती हो तो तैर कर निकाल देना" आदि सूत्रों में अनेक प्रकार की कही गई है । इन अनेक कार्यों की शास्त्र में आज्ञा है एवं भाव वंदन-नमस्कार में श्रमण भी सभी श्रमणियों को नमस्कार मंत्र में वंदन-नमस्कार करते हैं । पुढष ज्येष्ठ कल्प मात्र लौकिक व्यवहार के लिये ही तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट है, उसकी अवहेलना-अवज्ञा करना श्रद्धालु बुद्धिमानों को योग्य नहीं होता है । व्यवहार की जगह व्यवहार है और निश्चय (भाव) की जगह निश्चय (भाव) है। यही पुढष ज्येष्ठ कल्प को समझने का सार है ।गाथाओं की रचना पद्धति की विशेषता से कहीं गाथा में **पुरिस जेट्ठो** कहीं **जेट्ठकप्पो** शब्द है परंतु दोनों का तात्पर्यार्थ-भावार्थ-विवेचन एक संमत है ।

आर्य संस्कृति में शादी होने पर पुढष के घर स्त्री आती है किन्तु स्त्री के घर पुढष नहीं जाता है, इसे ही उपयुक्त समझकर पालन किया जाता है, किंतु इसे स्त्री के साथ अन्याय नहीं कहा जाता । वैसे ही पुढष ज्येष्ठ कल्प को स्त्री के साथ अन्याय नहीं

कहकर जिनाज्ञा समझकर श्रद्धान के साथ पालन किया जाता है वह उचित ही है ।आज हजारों साध्विओं में कोई भी साध्वी ऐसा सोचने वाली मिलना मुश्किल है कि साधु हमें वंदन करें अर्थात् १० हजार साध्वियों में १०० साध्वी भी ऐसी सोच वाली नहीं मिलेगी ।

निबंध– ५१

अस्वाध्याय स ब धी आगमिक विश्लेषण

दिन में तथा रात्रि में स्वाध्याय करना आवश्यक होते हुए भी आगमों में जब जब जहाँ जहाँ स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है उस अस्वाध्याय काल का सदा ध्यान रखना चाहिए। निम्न आगमों में अस्वाध्याय स्थानों का वर्णन है– **(१) ठाणा ग सूत्र अ.–४ में**– ४ प्रतिपदाओं और ४ स ध्याओं में स्वाध्याय करने का निषेध है। **(२) ठाणा ग सूत्र अ.–१० में**– १० आकाशीय अस्वाध्याय और १० औदारिक अस्वाध्याय कहे हैं। **(३) निशीथ उद्दे.–१९ में**– ४ महा महोत्सव ४ प्रतिपदा और ४ स ध्या में स्वाध्याय करने का प्रायश्चित्त कहा है। **(४) व्यव. उ.–७ में**– स्वशरीर सम्बन्धी अस्वाध्यायों में स्वाध्याय करने का निषेध किया है। इन सभी निषेध स्थानों का स ग्रह करने से कुल ३२ अस्वाध्याय स्थान होते हैं **यथा**–

आकाश सम्बन्धी	–१०
औदारिक सम्बन्धी	–१०
महोत्सव एव प्रतिपदा सम्बन्धी	– ८
स ध्याकाल आदि से सम्बन्धित	– ४
कुल	**– ३२**

आकाशीय अस्वाध्याय :– (१) उल्कापात– तारे का टूटना अर्थात् तारा विमान का चलित होना, स्थानान्तरित होना। तारा विमान के तिर्यक् गमन करने पर या देव के विकुर्वणा आदि करने पर आकाश में तारा टूटने जैसा दृश्य दिखाई देता है। यह कभी लम्बी रेखायुक्त गिरते हुए दिखता है, कभी प्रकाशयुक्त गिरते हुए दिखता है इसे ही व्यवहार में तारा टूटना कहा जाता है। सामान्यतः आकाश में तारे टूटते प्रायः सदा

ही देखे जाते हैं कि तु विशिष्ट प्रकाश करते हुए या प्रकाश रेखा खि चते हुए तारा टूटे तो ही अस्वाध्याय समझना चाहिए । इसका एक प्रहर तक अस्वाध्याय होता है।

(२) दिग्दाह :– स्वाभाविक ही पुद्गल परिणमन से एक या अनेक दिशाओं में आकाश में कोई महानगर के जलने जैसा दृश्य दिखाई दे उसे दिग्दाह समझना चाहिए। यह भूमि से कुछ ऊपर दिखाई देता है । इसका एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(३) गर्जन :– बादलों की ध्वनि । इसका दो प्रहर का अस्वाध्याय होता है । किन्तु आर्द्रानक्षत्र से स्वातिनक्षत्र तक के वर्षा–नक्षत्रों में अस्वाध्याय नहीं गिना जाता।

(४) विद्युत :– बिजली का चमकना। इसका एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है। कि तु उपर्युक्त वर्षा के नक्षत्रों में अस्वाध्याय नहीं होता है।

(५) निर्घात :– दारूण(घोर) ध्वनि के साथ बिजली का चमकना। इसे बिजली कड़कना या बिजली गिरना भी कहा जाता है। इसका आठ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(६) यूपक :– शुक्ल पक्ष की एकम, बीज और तीज के दिन सूर्यास्त होने एव चन्द्र उदय होने के समय की मिश्र अवस्था को यूपक कहा जाता है। इन तीन दिनों के प्रथम प्रहर में अस्वाध्याय होता है। इसे बालचन्द्र का अस्वाध्याय भी कहा जाता है।

(७) यक्षादीप्त :– आकाश में प्रकाशमान पुद्गलों की अनेक आकृतियों का दृष्टिगोचर होना। इसका एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(८) धूमिका :– अ धकारयुक्त धुँअर का गिरना । यह जब तक रहे, तब तक इसका अस्वाध्याय काल रहता है।

(९) महिका :– अ धकार रहित सामान्य धूँअर का गिरना। यह जब तक रहे तब तक इसका भी अस्वाध्याय रहता है। इन दोनों अस्वाध्यायों के समय अप्काय की विराधना से बचने के लिए प्रतिलेखन आदि कायिक- वाचिक कार्य भी नहीं किए जाते। इनके होने का समय

कार्तिक, मार्गशीर्ष, पोष और माघ मास है। अर्थात् इन गर्भमासों में कभी-कभी, कहीं-कहीं धूँअर या महिका गिरती है। किसी वर्ष किसी क्षेत्र में नहीं भी गिरती है।

पर्वतीय क्षेत्रों में बादलों के गमनागमन करते रहने के समय भी ऐसा दृश्य होता है। किन्तु उनका स्वभाव धूँअर से भिन्न होता है अतः उनका अस्वाध्याय नहीं होता है। धु अर से भूमि एव छत पानी युक्त हो जाते है कि तु बादलों के चलने से नहीं होते हैं।

(१०) रजोद्घातः– आकाश में धूल छा जाना और रज का गिरना। यह जब तक रहे तब तक अस्वाध्याय होता है। भाष्य में बताया है कि तीन दिन सचित्त रज गिरती रहे तो उसके बाद स्वाध्याय के सिवाय प्रतिलेखन आदि भी नहीं करना चाहिए क्यों कि सर्वत्र सचित्त रज व्याप्त हो जाती है। ये दस आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय है।

औदारिक अस्वाध्याय :– (११,१२,१३) हड्डी–मा स–खून। तिर्यंच की हड्डी या मा स ६० हाथ और मनुष्य की हड्डी मा स १०० हाथ के भीतर दृष्टिगत हो तो अस्वाध्याय होता है। हड्डियाँ जली हुई या धुली हुई हो तो उसका अस्वाध्याय नहीं होता है। अन्यथा उसका १२ वर्ष तक अस्वाध्याय होता है। इसी तरह दा त के लिए भी समझना चाहिए। खून जहाँ दृष्टिगोचर हो या ग ध आवे तो उसका अस्वाध्याय होता है अन्यथा अस्वाध्याय नहीं होता हे। अर्थात् ६० हाथ या १०० हाथ की मर्यादा इसके लिए नहीं है। तिर्यंच प चेन्द्रिय के खून का तीन प्रहर और मनुष्य के खून का अहोरात्र तक अस्वाध्याय रहता है। उसके बाद अस्वाध्याय नहीं रहता है।

उपाश्रय के पास किसी घर में लड़की उत्पन्न हो तो आठ दिन और लड़का हो तो ७ दिन अस्वाध्याय रहता है। इसमें दीवाल से स लग्न सात घर की मर्यादा मानी जाती है। तिर्यंच सम्बन्धी प्रसूति में **जरा** गिरने के बाद तीन प्रहर का अस्वाध्याय समझना चाहिए।

(१४) अशुचि :– मनुष्य का मल जब तक सामने दीखता हो या ग ध आती हो तब तक वहाँ अस्वाध्याय समझना चाहिए। तिर्यंच के मल की दुर्गन्ध आती हो तो अस्वाध्याय होता है, अन्यथा नहीं। मनुष्य के मूत्र की जहाँ दुर्गन्ध आती हो ऐसे मूत्रालय आदि के निकट

आगम निबंधमाला

अस्वाध्याय होता है। जहाँ पर नगर की नालियाँ–गटर आदि की दुर्गन्ध आती हो वहाँ भी अस्वाध्याय होता है। अन्य कोई भी मनुष्य तिर्यंच के शारीरिक पुद्गलों की दुर्गन्ध आती हो तो उसका भी अस्वाध्याय समझना चाहिए।

(१५) शमशान :– शमशान के चारों तरफ अस्वाध्याय होता है।

(१६) सूर्यग्रहण :– अपूर्ण हो तो १२ प्रहर और पूर्ण हो तो १६ प्रहर तक अस्वाध्याय होता है, सूर्यग्रहण के प्रार भ से अस्वाध्याय का प्रार भ समझना चाहिए। अथवा जिस दिन हो उस पूरे दिन रात तक अस्वाध्याय होता है, दूसरे दिन अस्वाध्याय नहीं रहता है।

(१७) चन्द्रग्रहण :– अपूर्ण हो तो आठ प्रहर और पूर्ण हो तो १२ प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है। यह ग्रहण के प्रार भ काल से समझना चाहिए। अथवा उस रात्रि में चन्द्रग्रहण के प्रार भ से अगले दिन जब तक चन्द्रोदय न हो तब तक अस्वाध्याय समझना चाहिए। उसके बाद अस्वाध्याय नहीं रहता है।

(१८) पतन :– राजा म त्री आदि प्रमुख व्यक्ति की मृत्यु होने पर उस नगरी में जब तक शोक रहे और नया राजा स्थापित न हो तब तक अस्वाध्याय समझना और उसके राज्य में भी एक अहोरात्र का अस्वाध्याय समझना चाहिए।

(१९) राज–व्युद्ग्रह :– जहाँ राजाओं का युद्ध चल रहा हो, उस स्थल के निकट या राजधानी में अस्वाध्याय रहता है। युद्ध के समाप्त होने के बाद एक अहोरात्र तक अस्वाध्याय काल रहता है।

(२०) औदारिक कलेवर :– उपाश्रय में मृत मनुष्य का शरीर पड़ा हो तो १०० हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय होता है। तिर्यंच का शरीर हो तो ६० हाथ तक अस्वाध्याय होता है। किन्तु परम्परा से यह मान्यता है कि औदारिक कलेवर जब तक रहे तब तक उस उपाश्रय की सीमा में अस्वाध्याय रहता है। मृत या भग्न अ ड़े का तीन प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है। **(२१–२४) चार पूर्णिमा–** अषाढ़ी, आसोजी, कार्तिकी और चैत्री पूनम। **(२५–२८)चार प्रतिपदा–** श्रावण वदी एकम, कार्तिक वदी एकम, मिगसर वदी एकम, वैसाख वदी एकम।

(२९-३२)चार स ध्या– सूर्योदय एव सूर्यास्त के समय की लाल दिशा रहे जब तक का समय तथा मध्यान्ह एव मध्य रात्रि का(१२ बजे से १ बजे तक का) समय।

पूर्णिमा और प्रतिपदा को लगातार ४८ घन्टे दो दिन का अस्वाध्याय सूर्योदय से सूर्योदय तक रहता है। दिन और रात्रि में १२ बजे से एक बजे तक मध्यान्ह और मध्य रात्रि का अस्वाध्याय होता है। सुबह शाम जितने समय लाल दिशा रहे तब तक अस्वाध्याय रहता है। सूर्योदय के पूर्व लगभग ४०-५० मिनट लाल दिशा रहती है एव सूर्योदय के बाद १०-१२ मिनट रहती है। सूर्यास्त के पूर्व १०-१२ मिनट एव सूर्यास्त के बाद ४०-५० मिनट लगभग लाल दिशा रहती है। ***इन सभी अस्वाध्यायों का विवेचन प्रायः भाष्य के आधार से किया गया है। अतः प्रमाण के लिए देखें- निशीथ भाष्य गा० ६०७८-६१६२, व्यव० उ० ७ भाष्य गा० २७२-३८३, अभि० रा० कोश भाग एक पृ० ८२७ 'असज्झाइय' शब्द।***

इन ३२ प्रकार के अस्वाध्यायों में स्वाध्याय करने पर जिनाज्ञा का उल्ल घन होता है और कदाचित किसी देव द्वारा उपद्रव भी हो सकता है तथा ज्ञानाचार की शुद्ध आराधना नहीं होती है अपितु अतिचार का सेवन होता है। धूमिका, महिका में स्वाध्याय आदि करने से अप्काय की विराधना भी होती है। औदारिक पुद्गल सम्बन्धी दस अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने पर लोक व्यवहार से विढद्ध आचरण भी होता है तथा सूत्र का सम्मान भी नहीं रहता है। युद्ध के समय और राजा की मृत्यु होने पर स्वाध्याय करने से राजा या राज कर्मचारियों को साधु के प्रति अप्रीति या द्वेष उत्पन्न हो सकता है।

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने के निषेध करने का प्रमुख कारण यह है कि भग० श०-५, उ०-४ में देवों की अर्धमागधी भाषा कही है और यही भाषा आगम की भी है। अतः मिथ्यात्वी एव कौतुहली देवों के द्वारा उपद्रव करने की सम्भावना बनी रहती है।

अस्वाध्याय के इन स्थानों से यह भी ज्ञात होता है कि स्पष्ट घोष के साथ उच्चारण करते हुए आगमों की पुनरावृत्ति रूप स्वाध्याय करने की पद्धति होती है। इसी अपेक्षा से ये अस्वाध्याय कहे हैं

किन्तु इनकी अनुप्रेक्षा में या भाषा तरित हुए आगम का स्वाध्याय करने में अस्वाध्याय नहीं होता है।

अस्वाध्याय के सम्बन्ध में विशेष विधान यह है कि आवश्यक सूत्र के पठन-पाठन में अस्वाध्याय नहीं होता है क्यों कि यह सदा उभयकाल स ध्या समय में ही अवश्य करणीय होता है। अतः 'नमस्कार मन्त्र', 'लोगस्स' आदि आवश्यक सूत्र के पाठ भी सदा सर्वत्र पढ़े या बोले जा सकते हैं।

किसी भी अस्वाध्याय की जानकारी होने के बाद शेष रहे हुए अध्ययन या उद्देशक को पूर्ण करने के लिए स्वाध्याय करने पर प्रायश्चित्त आता है।

तिर्यंच प चेन्द्रिय या मनुष्य के रक्त आदि को जल से शुद्ध करना हो तो स्वाध्याय स्थल से ६० हाथ या १०० हाथ दूर जाकर करना चाहिए। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय के खून या कलेवर का अस्वाध्याय नहीं गिना जाता है। औदारिक सम्बन्धी अशुचि पदार्थों के बीच में राजमार्ग हो तो अस्वाध्याय नहीं होता है। उपाश्रय में तथा बाहर ६० हाथ तक अच्छी तरह प्रतिलेखन करके स्वाध्याय करने पर भी कोई औदारिक शरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय रह जाय तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

अतः भिक्षु दिन में सभी प्रकार के अस्वाध्यायों का प्रतिलेखन एव विचार करके स्वाध्याय करे और रात्रि में स्वाध्याय काल प्रतिलेखन करने योग्य भूमि का अर्थात् जहाँ पर खड़े होने पर सभी दिशाएं एव आकाश स्पष्ट दिखें ऐसी तीन भूमियों का सूर्यास्त पूर्व प्रतिलेखन करे। वर्षा आदि के कारण से कभी मकान में रहकर भी काल का प्रतिलेखन किया जा सकता है।

बहुत बड़े श्रमण समूह में दो साधु आचार्य की आज्ञा लेकर काल प्रतिलेखन करते हैं, फिर सूचना देने पर ही साधु स्वाध्याय करते हैं। बीच में अस्वाध्याय का कारण ज्ञात हो जाने पर उसका पूर्ण निर्णय करके स्वाध्याय बन्द कर दिया जाता है।

स्वाध्याय आभ्यन्तर तप एव महान निर्जरा का साधन होते हुए भी अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने पर जिनाज्ञा का उल्ल घन

होता है, मर्यादा भ ग आदि से कर्मबन्ध होता है, कभी अपयश भी होता है, इसलिए स यम विराधना की एव प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। **–निशीथ चूर्णि उद्दे.–१९, सूत्र–१४, – अभि. रा. को. भा.–१, पृ. ८२७.** अतः स्वाध्याय प्रिय भिक्षु को इन ३२ अस्वाध्यायों के सम्बन्ध में सदा सावधानी रखनी चाहिए।

नोंध :– ***भादवा की पूनम एव आसोज की एकम की भी अस्वाध्याय मानने की पर परा है। जो लिपि दोष आदि से बनी भ्रमित पर परा है जिससे ३२ + २ = ३४ अस्वाध्याय कही जाती है।***

निबंध– ५२

अनुकम्पा में दोष स ब धी विवेक ज्ञान

(निशीथ सूत्र, उद्देशक–१२, सूत्र–१–२) कोलुण शब्द का अर्थ कढणा होता है। यथा– ***कोलुण –काढण , अनुकम्पा । –चूर्णी***

ब धा हुआ पशु ब धन से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा हो, उसे ब धन से मुक्त कर देना अथवा सुरक्षा के लिये खुले पशु को नियत स्थान पर बाँध देना यह पशु के प्रति करूणा भाव है।

पशु को बाँधने पर वह ब धन से पीड़ित हो या आकुल-व्याकुल हो तो तज्जन्य हिंसा दोष लगता है। खोलने पर कुछ हानि कर दे, निकलकर कहीं गुम जाये या ज गल में चला जाये और वहाँ कोई दूसरा पशु उसे खा जाये या मार ड़ाले तो भी दोष लगता है।

यद्यपि पशु आदि के खोलने-बाँधने आदि के कार्य स यम समाचारी से विहित नहीं है। ये कार्य भी गृहस्थ के कार्य ही हैं। इसलिए उसका प्रायश्चित्त गृहस्थ कार्य करने के प्रायश्चित्त के बराबर आना चाहिए अर्थात् गुढ चौमासी प्रायश्चित्त आना चाहिए। किन्तु अनुकम्पा भाव की मुख्यता होने से इसका गुढ प्रायश्चित्त न कहकर लघु प्रायश्चित्त कहा गया है।

अनुकम्पा भाव का सहज आ जाना यह सम्यक्त्व का मुख्य लक्षण है, फिर भी भिक्षु ऐसे अनेक गृहस्थ, जीवन के कार्यों में न उलझ जाये इसलिये उसके स यम जीवन की अनेक मर्यादाएँ है। भिक्षु के

पास आहार या पानी आवश्यकता से अधिक हो तो उसे परठने की स्थिति होने पर भी किसी भूखे या प्यासे व्यक्ति को मा गने पर या बिना मा गे देना नहीं कल्पता है क्यों कि इस प्रकार देने की प्रवृत्ति से या प्रस्तुत सूत्र कथित प्रवृत्ति करने में क्रमशः भिक्षु अनेक गृहस्थ कृत्यों में उलझ कर स यम साधना के मुख्य लक्ष्य से दूर हो सकता है। उत्तरा. अ. ९, गा. ४० में नमिराजर्षि, शकेन्द्र के द्वारा की गई दान की प्रेरणा के उत्तर में कहते हैं– ***तस्सावि स जमो सेओ, अदि तस्स वि कि चण ॥*** अर्थात् कुछ भी दान न करते हुए गृहस्थ के महान् दान से भी स यम श्रेष्ठ है।

अनुकम्पा भाव युक्त प्रवृत्ति की सामान्य परिस्थिति के प्रायश्चित्त में एव विशेष परिस्थिति के प्रायश्चित्त में भी अन्तर होता है अतः यह प्रायश्चित्तदाता गीतार्थ के निर्णय पर ही निर्भर रहता है।

यदि कोई पशु या मनुष्य मृत्यु स कट में पड़े हों और उन्हें कोई बचाने वाला न हो, ऐसी स्थिति में यदि कोई भिक्षु उन्हें बचा ले तो उसे छेद या तप प्रायश्चित्त नहीं आता है। केवल गुरू के पास उसे आलोचना रूप निवेदन करना आवश्यक होता है।

यदि उस अनुकम्पा की प्रवृत्ति में बाँधना, खोलना आदि गृहकार्य, आहार-पानी देना आदि मर्यादा भ ग के कार्य या जीवविराधना का कोई कार्य हो जाये तो उन दोषों का लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। किन्तु अनुकम्पा का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। फिर भी सूत्र में अनुकम्पा शब्द लगाकर कथन किया है वह मोह भाव का अभाव सूचित कर लघु प्रायश्चित्त कहने की अपेक्षा से है और साथ में यह भी बताया गया है कि करूणा भाव की प्रमुखता से गृहस्थ प्रवृत्ति का भी गुढ से लघु प्रायश्चित्त हो जाता है।

तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने स यमसाधना काल में तेजो लेश्या से भस्मभूत होने वाले गौशालक को अपनी शीतलेश्या से बचाया और केवल ज्ञान के बाद इस प्रकार कहा कि– मैने गौशालक की अनुकम्पा के लिये शीतलेश्या छोड़ी, जिससे वेश्यायन बालतपस्वी की तेजोलेश्या प्रतिहत हो गई। ***–भग. श. १५ ।***

अतः इस सूत्र में करूणा भाव या अनुकम्पा भाव का प्रायश्चित्त

नहीं है किन्तु उसके साथ की गई गृहस्थ की प्रवृत्ति या स यममर्यादा भ ग की प्रवृत्ति का ही प्रायश्चित्त है और करूणा भाव साथ में होने से उस प्रवृत्ति का लघु प्रायश्चित्त है ऐसा समझना चाहिए।

अनुकम्पा पवित्र आत्म परिणाम है– अनुकम्पा का अर्थ है– किसी प्राणी को दुःखी देखकर देखने वाले का ह्रदय करूणा से भर जाना और भावना जागृत होना कि 'इसका यह दुःख दूर हो जाय,' इसको ही अनुकम्पा कहते हैं। यह अनुकम्पा आत्मा का परिणाम है, आत्मा का गुण है और एका त निर्वद्य है। अतः अनुकम्पा के सावद्य-निर्वद्य ऐसे विकल्प करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तथापि अनुकम्पा के परिणामों के पश्चात् किसी के दुःख को दूर करने के लिए जो साधन रूप प्रवृत्ति की जाती है वह प्रवृत्ति सावद्य और निर्वद्य दोनों तरह की हो सकती है। **यथा–** भूख-प्यास से व्याकुल पुढष को श्रावक द्वारा अचित्त भोजन व अचित्त जल दे देना अथवा सचित्त भोजन और सचित्त जल दे देना। किन्तु इससे आत्म परिणाम रूप जो अनुकम्पा भाव है, उन भावों को या आत्मगुणों को सावद्य निर्वद्य के विकल्प से नहीं कहा जा सकता। वे तो शुभ एव पवित्र आत्मपरिणाम ही है।

आत्मा के इन्हीं पवित्र परिणामों के कारण गृहस्थ प्रवृत्ति का भी प्रस्तुत सूत्र में लघु प्रायश्चित्त कहा गया है। अनुकम्पा के भावों के निमित्त से अन्य कोई भी प्रवृत्ति की जाय उसे भी यथायोग्य सावद्य या निर्वद्य समझ लेनी चाहिए।

सार– (१) अनुकम्पा के आत्म परिणाम तो सदा सर्वदा श्रेष्ठ एव पवित्र ही होते हैं। (२) अनुकम्पा से किसी के दुःख को दूर करने में जो प्रवृत्ति की जाती है वह निर्वद्य भी होती है और सावद्य भी होती है। प्रवृत्ति करने में साधु एव श्रावक की अपनी-अपनी अलग-अलग मर्यादाएँ होती है तदनुसार ही विवेक रखना योग्य है।

निबंध–५३

जैनागमों में स्वमूत्र उपयोग(शिवा बु चिकित्सा)

व्यवहारसूत्र उद्देशक–९ में कही गई मोक प्रतिज्ञा(मूत्र पीने की प्रतिमा) को धारण करने के बाद चारों प्रकार के आहार का त्याग

कर दिया जाता है, केवल स्वमूत्र पान करना खुला रहता है अर्थात् उन दिनों में जब जब जितना भी मूत्र आवे उसे सूत्रोक्त नियमों का पालन करते हुए पी लिया जाता है।

नियम इस प्रकार है :– (१) दिन में पीना, रात्रि में नहीं। (२) कृमि, वीर्य, रज या चिकनाई युक्त हो तो नहीं पीना चाहिए। शुद्ध हो तो पीना चाहिए। प्रतिमाधारी भिक्षु के उक्त रक्त, स्निग्धता आदि विकृतियाँ किसी रोग के कारण या तपस्या एव धूप की गर्मी के कारण हो सकती है, ऐसा भाष्य में बताया गया है। कभी मूत्र पान से ही शरीर के विकारों की शुद्धि होने के लिए भी ऐसा होता है।

यद्यपि इस प्रतिमा वाला सात दिन की चौविहार तपस्या करता है और रात-दिन व्युत्सर्ग तप में रहता है फिर भी वह मूत्र की बाधा होने पर कायोत्सर्ग का त्याग कर मात्रक में प्रस्रवण त्याग करके उसका प्रतिलेखन करके पी लेता है। फिर पुनः कायोत्सर्ग में स्थित हो जाता है। यह इस प्रतिमा की विधि है।यह प्रतिमा ७ या ८ दिन की होती है । इस प्रतिमा का पालन करने वाला मोक्षमार्ग की आराधना करता है। साथ ही उसके शारीरिक रोग दूर हो जाते है और क चन वर्णी बलवान शरीर हो जाता है। प्रतिमा आराधना के बाद पुनः उपाश्रय में आ जाता है। भाष्य में उसके पारणे में आहार-पानी की ४९ दिन की क्रमिक विधि बताई गई है।

लोकव्यवहार में मूत्र को एका त अशुचिमय एव अपवित्र माना जाता है किन्तु वैद्यक ग्रन्थों में इसे 'सर्वोषधि' शिवा बु आदि नामों से कहा गया है और जैनागमों में(आचारा ग में) भिक्षु को 'मोयसमायारे' कह कर उसके प्रतिपक्ष में गृहस्थों को **"शुचि समाचारी"** वाला कहा गया है। **अभि. रा. कोश में 'निशाकल्प'** शब्द में साधु के लिए रात्रि में पानी के स्थान पर इसे आचमन करने में उपयोगी होना बताया है।

स्वमूत्र का विधि पूर्वक पान करने पर एव इसका शरीर की त्वचा पर अभ्य गन करने पर अनेक असाध्य रोग दूर हो जाते हैं। चर्मरोग के लिए या किसी प्रकार की चोट खरोंच आदि के लिए यह एक सफल औषध है। अतः आगमों में मूत्र को एकान्त अपवित्र या अशुचिमय नहीं

मानकर अपेक्षा से पेय एव अपेक्षा से अशुचिमय भी माना है।

भाष्यकार ने यह भी बताया है कि जनसाधारण शौचवादी होते हैं और मूत्र को एकान्त अपवित्र मानते हैं, अतः प्रतिमाधारी भिक्षु चारों और प्रतिलेखन करके कोई भी व्यक्ति न देखें, ऐसे विवेक के साथ मूत्र का पान करे। तदनुसार सामान्य भिक्षुओं को भी प्रस्त्रवण-मूत्र सम्बन्धी कोई भी प्रवृत्ति करनी हो तो जनसाधारण से अदृष्ट एव अज्ञात रखते हुए करने का विवेक रखना चाहिए।

वर्तमान में मूत्रचिकित्सा का महत्व बहुत बढ़ा है, इस विषय के स्वतन्त्र ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। जिसमें केन्सर, टी॰बी॰ आदि असाध्य रोगों के उपशा त होने के उल्लेख भी मिलते हैं।

निबंध- ५४

विवध श्रमण गुण प्रेरणा

आगमांश :-

(१) **समयाए समणो होई** ।*-उत्तरा. २५॥* समभाव धारण करने से ही **समन** होता है ।

(२) **अप्पमत्तो परिव्वए** ।*-उत्तरा. ६ ॥* सदा अप्रमत होकर विचरण करना चाहिये अर्थात् महाव्रत समिति गुप्ति में पूर्ण सावधान रहकर उनका शुद्ध पालन आराधन करना चाहिये।

पमत्ते बहिया पास अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि ।*-आचा. अ. ५ उ. २ ।* **उट्ठिए नो पमाए** ।*-आचा. अ. ५ उ. २ ।* संयम में प्रमाद करने वालों को संयम घर से बाहर समझ। अतः सदा अप्रमत्त भावों में रहकर संयम तप में पराक्रम करते रहना ।

(३) **जयं चरे जयं चिट्ठे** ।*-दशवै. ४ ।* यतना पूर्वक चलना उठना बैठना आदि प्रवृत्ति करना ।

(४) **अदु इंखिणिया हु पाविया** ।*-सुय. अ. २ उ. २ ।* परनिंदा तो पापकारी प्रवृत्ति है अर्थात् पंद्रहवाँ पाप है, १८ पाप में ।

(५) **सव्वामगंधं परिण्णाय निरामगंधो परिव्वए** ।*-आचा. श्रु. १ अ. २ उ. ५ ।* संयम एवं गवेषणा के छोटे बडे सभी दोषों को जानकर

निर्दोष संयम का पालन करते हुए विचरण करे ।

(६) **णाणेण मुणि होई** ।*-उत्तरा. २५ ।* ज्ञान की आराधना से मुनि कहा जाता है ।

(७) **बंभचरेणं बंभणो** ।*-उत्तरा. २५ ।* ब्रह्मचर्य के पालन से सच्चा ब्राह्मण कहा जाता है ।

(८) **सोहि उज्जुयभूयस्स** ।*-उत्तरा. ३ ।* आत्मशुद्धि-सरल आत्माओं की होती है ।

अमायं कुव्वमाणे वियाहिए ।*-आचा. अ. १ उ. ३ ।* माया का सेवन आचरण नहीं करने वाला श्रमण कहा जाता है ।

(९) **खंतिक्खमे** ।*-उत्तरा. २१, खमासणो- आव. ।* मुनि क्षमा को धारण करे, अखूट क्षमाभावना को धारण करने वाला श्रमण ।

(१०) **अणिकेओ परिव्वए** ।*-उत्तरा. २ ।* कहीं भी अपना घर नहीं बनाता हुआ विचरण करे। क्षेत्र एवं व्यक्ति में कहीं भी ममत्व-मेरापन नहीं करे ।

(११) **तेण वुच्चंति साहुणो** ।*-दश॰१ । साहवो तो चियत्तेण ।- दश॰ ५ ।* किसी के आश्रय से नहीं रहने वाले निराश्रयी एवं मधुकर वृति करने वाले साधु कहे जाते हैं । साधु प्रतीतकारी, प्रियकारी वचनों से प्रेमभाव पूर्वक आहार का यथाक्रम से सुश्रमणों को निमंत्रण करे।

भावानुवाद=तात्पर्यार्थ :-

(१) समन- सदा समभावी बनो, विषम भाव दूर रखो ।

(२) श्रमण- आलसी मत बनो उद्यमशील बनो, अप्रमत्त भाव मे लीन रहो । प्रमत्त भाव से दूर रहो ।

(३) संयत- ६ काया जीवों की यतना से प्रत्येक प्रवृति करो ।

(४) निर्ग्रन्थ- राग, द्वेष, कलुषता, घृणा, निंदा, नाराजी की गांठे छोड़ो ।

(५) भिक्षु- गवेषणा विधि में उपेक्षा न करो, इमानदारी रखो ।

(६) मुनि- ज्ञान की उत्कृष्ट खप रखो, स्वाध्याय में लगे रहो ।

(७) ब्राह्मण- ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करो । कम खाओ । तप करो।

(८) **ऋजु (अंजु)**– साफ दिल सरल स्वभाव रखो, कपट प्रपंच छोड़ो।
(९) **क्षमाश्रमण**– शांत बनो, क्षमा करो, गम खाओ, सहन करो ।
(१०) **अणगार**– घर रहित बनो । **मेरे घर, मेरे गाँव** ऐसा मत करो ।
(११) **साधु**– श्रेष्ठ कर्तव्य करो । किसी का बुरा मत करो ।

अकरणीय :–

(१) किसी भी गांव घर या गृहस्थ में ममत्व न करें अर्थात् उन को **मेरे–मेरे** न कहें । गुढआमनाय के रोग से ग्रसित न बनें ।

(२) विभूषा वृत्ति न करे अर्थात् अच्छा दिखने हेतु शरीर उपकरण को नहीं सजावें एवं संग्रह वृत्ति भी न करें ।

(३) किसी भी साधु से घृणा न करें । स्वयं शिथिलाचारी न बने ।

(४) किसी की निंदा तिरस्कार, इन्सल्ट न करें ।

(५) कभी भी शोक संताप न करें ।

करणीय :–

(१) वाड़ सहित ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करें ।

(२) आहार-पानी, मकान, पाट, वस्त्र–पात्र आदि की शुद्ध गवेषणा करें ।

(३) गमनागमन आदि प्रवृति विवेकपूर्ण रखें । उपर से ने फेंके ।

(४) भाव और भाषा को सदा पवित्र रखें अर्थात् मृदुभाषी, पवित्र हृदयी, सरल शांत स्वभावी बनें । सदा प्रसन्न रहें ।

(५) आगम स्वाध्याय वाचना आदि की वृद्धि करें । एकत्व भावना एवं तपस्या में लीन बने रहें । आगमों को अर्थ सहित कण्ठस्थ करे ।

निबंध– ५५

जैन धर्म का प्राण

एकता के अभाव की खटक तो सही है ।
फिर भी वीतराग धर्म निष्प्राण नहीं है ॥

जैन धर्म मोक्ष प्राप्ति का सच्चा और शुद्ध मार्ग है । ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप यह मोक्ष मार्ग है अर्थात् ये चार मोक्ष के उपाय है । इन चारों को जैन धर्म का प्राण समझना चाहिए ।

(१) **ज्ञान :–** यद्यपि वर्तमान में सिंधु में बिंदु जितना ज्ञान शेष रहा है तथापि इतना जैन साहित्य उपलब्ध है कि आज के लिये मानव को पर्याप्त मोक्ष साधन है । कई संत–सतियाँ आगम अभ्यास, चिंतन मनन और उसका प्रवचन विवेचन समाज को भिन्न-भिन्न रूप में देने में सतत अनवरत प्रयत्नशील है । वे स्वयं भी पढ़ते हैं अन्य के लिये सरल साहित्य तैयार करते हैं । कंठस्थ करने में और वाचन करने में भी आगम प्रकाशन के निमित से साधु समाज व श्रावक समाज में जागृति मौजूद है । कई संत सतियों का श्रावक श्राविकाओं का जीवन आगम वाचन में लगा हुआ है । जनता में अनेक तरह से स्वाध्याय की प्रेरणा और प्रवृत्ति चालू है । सैकड़ों धार्मिक पाठशालाएँ, धार्मिक विभिन्न शिविर, धार्मिक पत्र पत्रिकाएँ, कथा साहित्य, प्रचारक मंडलों के भ्रमण चालू हैं । चारों ही तीर्थ जैन अजैन को यथायोग्य ज्ञान देने में पुढषार्थरत हैं । साधु-साध्वी के सिवाय सैकड़ों व्याख्याता श्रावक तैयार हुए हैं और जनता में जैन धर्म का प्रचार करते हैं । संत-सती भी भ्रमण कर धर्म प्रचार में ही बहुत समय का भोग देते हैं । यह जैन धर्म का ज्ञान प्राण सुप्त है या जागृत कोई भी सोच कर समझ सकता है ।

(२) **दर्शन :–** आज जिन शासन में अवधिज्ञानी नहीं, मनः पर्यवज्ञानी नहीं, केवल ज्ञानी नहीं, पूर्वों के पाठी नहीं, कोई चमत्कारी विद्याएँ लब्धियें भी नहीं, फिर भी जैन समाज की धर्म के प्रति श्रद्धा निष्ठा, भक्ति भाव, गुढओं के प्रति आदर भक्ति भाव और आगमों के प्रति श्रद्धा भक्ति आज भी मौजूद है । प्राणों से भी प्रिय लगने वाली अपनी संपत्ति का धर्म व गुढओं के इशारे में ही लाखों की तादाद का ममत्व छोड़ देते हैं । कई पर्युषण के दिनों में घर का त्याग कर समय का भोग देने को तत्पर है । कई निवृत्तिमय सेवा देने में तत्पर है । प्रायः सभी जैन फिरकों वाले अपने गुढओं व धर्म के प्रति तन, मन, धन से सेवा देने में बढ़ रहे हैं । संयम लेने में भी पीछे नहीं रहते हैं । सैकड़ों शिक्षित युवक युवतियाँ दीक्षा लेकर अपने को धन्य मानते हैं । सैकड़ों युवक संसार में रहते हुए भी पर्युषण में साधु के समान पाट पर बैठने में नहीं डरते और सैकड़ो हजारों लोगों को संत-सती की पूर्ति का आभाष कराते हैं ।

जैन धर्म में अपने तीर्थंकरों के प्रति, नवकार मंत्र के प्रति, व्रत नियमों के प्रति, श्रावक व्रतों व संयम जीवन के प्रति भी सैकड़ों हजारों लाखों मनुष्यों की श्रद्धा बनी हुई है । सैकड़ों प्रहारों के आते हुए भी और विज्ञान की चकाचौंध में भी जैनों की धर्म निष्ठा और उन्नति देख अन्य लोग भी प्रभावित होते हैं । देश के अनेक नेता भी जैन धर्म के कई प्रसंगो में उपस्थित होते हैं और जैन धर्म के प्रति, जैन संतों के प्रति अपनी सद्‌भावना प्रकट करते हैं । यह जैन धर्म का दर्शन(श्रद्धान) प्राण सुप्त है या जागृत सोचें ।

(३) चारित्र :– आज के मानव को संपूर्ण कर्मों से मुक्ति इस भव में नहीं हो सकती है, यह सभी धर्मी जानते हैं । फिर भी जैन समाज में धर्म आचरण की प्रवृत्ति दिनों दिन वृद्धि होते जा रही है । जैन धर्म के आचरण मार्ग के दो विभाग है ।(१) सर्व विरति(संयम) (२) देश विरति श्रावक व्रत । सर्व विरति धारक संत-संतियों का समाज में अभाव नहीं हुआ है और नये धारण करने वालों का शिलशिला भी चालू है । उसमें भी युवक युवाओं का नंबर वृद्धों से भी आगे है । साथ ही शिक्षित अनेक डिग्री हासिल किए हुए युवक भी दीक्षा लेने में नंबर रखते हैं । कई परिवार के परिवार अग्रसर हैं तो कई छोटी उम्र में सजोड़े दीक्षित होने में भी पीछे नहीं रहते हैं । देशविरति धारण करने में भी समाज में व्यक्ति पीछे नहीं है । हजारों जैनी व्रतप्रत्याख्यान, नित्य नियम, सामायिक, १४ नियम, पोषध आदि करते हैं । १२ व्रतधारी भी बनने वालों का प्रवाह चालू है । पूर्ण निवृत्ति जीवन वालों का भी अभाव नहीं है । संत सतियों का चातुर्मास प्राप्त करके प्रसन्नतापूर्वक धर्माराधन में अजोड़ वृद्धि करते हैं ।

(४) तप :– आभ्यंतर बाह्य ढप से दो प्रकार का है । उसमें भी श्रावक व साधु समाज सुस्त नहीं हुआ हैं । आभ्यंतर तप में आज ज्ञान, ध्यान, शिविर प्रवृत्तियें, गुढओं के प्रति दर्शन करने, विनय करने की प्रवृत्तियें भी चालू है । साधुओं में सेवा विनय के अनूठे प्रमाण समाज के सामने समय-समय पर आते हैं । साधुओं के स्वाध्याय ज्ञान का प्रचार भी अनेक जगह देखने को मिलता है । ध्यान की विचारणा में भी संत-सतियाँ अग्रसर हो रहे हैं ।

बाह्य तप में श्रावक श्राविकाओं में जो तप की वृद्धि इस निस्सार खान-पान के समय में भी हो रही है वह अनुपम है, वर्णनीय है । चातुर्मास आदि के वर्णनों को देखने–पढ़ने वालों से कुछ छिपा नहीं है । छोटी उम्र के संत संती भी तप में मासखमण तक बढ़ जाते हैं।

गाँव-गाँव में तपस्या की झड़ियें लगती है । आयंबिल की ओलियाँ, एकातर तप(वर्षी तप) करने वालों के उत्साह की भी कमी नहीं दिखती है । कई तो वर्षों से एकांतर तप, आयंबिल, एकाशन आदि करते हैं । कोई वर्ष भर बेले, तेले और पंचोले-पंचोले पारणा करते है तो कोई महिनों तक निरंतर निराहार रह जाते हैं । कोई साधु श्रावक संलेखना, संथारा युक्त पंडित मरण प्राप्त करते हैं । वे दो तीन मास तक के संथारे को भी प्राप्त करते हैं । यह धर्म का **चौथा तप प्राण** कितना जागृत हैं देखें ।

जैन धर्म के जीवन की कसौटी करने का यह श्रेष्ठ दर्पण है किन्तु जनसंख्या की अपेक्षा तो बहुमत जैन धर्म का दुनिया में तीर्थकरों के समय भी नहीं होता है । अनेकता–एकता और बहुलता यह जैन धर्म के प्रभाव की सही कसौटी नहीं है । तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के जीवन समय में दो तीर्थंकर और उनके श्रावक समाज का अस्तित्व और वातावरण दुनिया के सामने था । सैकड़ों लब्धिधारी और भगवान स्वयं अतिशयवान थे । सैंकड़ो हजारों देव भी आते थे । तो भी अनेकता न ढकी । जमाली ने अपने को छद्मस्थ होते हुए भी भगवान के सामने केवली होने का स्वाँग धर कर अलग पंथ चलाया । भगवान के जीवन काल में धर्म की अनेकता में भी धर्म जीवित था, मोक्ष चालु था तो अब २००० वर्ष के भस्म ग्रह के प्रभाव के बाद हुंड़ावसर्पिणी काल प्रभाव में और विशिष्ट ज्ञानियों लब्धियों के अभाव में अनेकरूपता धर्म के जीवन में क्यों शंका पैदा करती है ?

तीर्थंकरों के सत्ता काल में भी सारे विश्व को जैन धर्म पढ़ाना सुनाना मनाना किसी इन्द्रों के हाथ में नहीं था । स्वयं भगवान महावीर के प्रमुख श्रावक के घर भी मांसाहार हो जाना असम्भव नहीं था । फिर भी भगवान और भगवान के धर्म के प्राण में शंका नहीं की जाती थी । भगवान के समवसरण में निरपराध भिक्षुओं को एक अन्यायी

व्यक्ति जलाकर भष्म कर दे या अन्यत्र सैकड़ो साधुओं को कोई घाणी में पील दे, कृष्ण की राजधानी का एक व्यक्ति उसके भाई साधु के प्राण समाप्त कर दे तो भी धर्म जीवन में शंका नहीं की जाती थी तो आज बिना धणियों के भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप रूप प्राण की जैन धर्म की इस उन्नत दशा में धर्म जीवन में क्यों शंका की जाय ?

एकता होना अच्छा है सभी चाहते है फिर भी यह तीर्थंकरों के भी वश की बात नहीं हैं । एकता होना सोने में सुगंध की उक्ति को चरितार्थ करना है किन्तु न हो तो सोने को पीतल कहने का दुस्साहस तो नहीं किया जा सकता है ।

संपूर्ण देश में छुट्‌टी कराने में ही धर्म के जीवन को मानने की अपेक्षा तो संवत्सरी और महावीर जयंति को संपूर्ण जैन समाज अपना व्यापार कार्य न करे । जैन का बच्चा-बच्चा उस दिन सामयिक किये बिना रोटी न खाये या दया पौषध, पाप त्याग आदि धर्मानुष्ठान करे । कुव्यशन, मनोरंजन आदि का उस दिन पूर्ण त्याग रखें । तो उनके लिये तो छुट्टी हो ही जावेगी । धर्माराधना में धर्म के प्राण में सरकारी छुट्टी न होना कोई बाधक नहीं होगा ।

तीर्थंकरों की उपस्थिति में देश भर में राजकीय छुट्‌टी होने का कोई प्रश्न ही नहीं था । फिर भी जैन धर्म की आराधना एवं प्रभावना होती ही थी । कहने का सार यह है कि किसी भी उन्नत गुण का महत्त्व अपनी सीमा तक ही समझना चाहिए एवं स्यादवादमय चिंतन से तोलना चाहिये एकातिक चिंतन और कसौटी करना लाभप्रद नहीं है । सांवत्सरिक एकता या अन्य एकता होना एक विशेष गुण है फिर भी उसके अभाव में धर्म को एकांत निष्प्राण समझ लेना एकांत वाद है।

सरकारी छुट्‌टी कराने में ही अपनी शान समझना आज एक शौक हो गया है, किन्तु सरकारी छुट्‌टी हो भी जाय और उस दिन जैनी लोग अपनी दुकानें बन्द नहीं करें, सात व्यसन त्याग नहीं करे, मौज शौक एसो आराम नहीं छोडे, तास–चौपड़ आदि खेलें और आपसी मनमुटाव, राग-द्वेष, निंदा–विकथा, ईर्षा आदि नहीं छोडें, मन एवं आत्मा को सभी जीवों के प्रति, सभी धर्मियों के प्रति, सभी समुदायों–संप्रदायों के प्रति, सभी फिरकों के साधु-साध्वियों के प्रति, अपने ही भाइयों–गुढभाइयों

के प्रति पवित्र नहीं बनावे, प्रेम की धारा नहीं बहाकर राग–द्वेष की धारा चालु रखें तो इसमें धर्म की शान कैसे बढ़ेगी ?? अत: एकता का प्रयास करना अच्छा होते हुए भी उसके अभाव में हतोत्साह नहीं होना चाहिये किन्तु उस दिन अपना व्यापार और पाप कार्य बन्द कर अपनी आत्मा को परम पवित्र बनाकर धर्म की आराधना में तल्लीन बन जाना चाहिए । बिना छुट्टी के छुट्टी ले कर धर्म ध्यान करना चाहिए । संसार हेतु अनेकों छुट्टियाँ ली जा सकती है तो क्या धार्मिक पर्व के लिए एक छुट्टी भी जैनी अपनी इच्छा से नहीं ले सकते हैं ? और सरकारी छुट्टी की आशा–अपेक्षा से हतोत्साह होते रहें, यह ठीक नहीं हैं ।

अत: सरकार माने या न माने सारा जैन समाज यह दृढ़ निश्चय कर ले कि संवत्सरी के दिन हम कोई भी व्यापार नहीं करेंगे, दुकान नहीं खोलेंगे, नौकरी पर नहीं जाएँगे और दिन रात धर्माराधन में लगायेंगे तो स्वत: ही सभी जैनों के लिए छुट्टी हो जाएगी और श्रेष्ठ पर्वाराधन हो सकेगा । ***स्वयं का त्याग ही, श्रेष्ठ त्याग है । संवत्सरी एकता, समाज का भाग्य है ॥***

निबंध–५६

जैन एकता सुझाव

(१) किसी एक लौकिक पंचांग को प्रमाणभूत मानकर उसमें निर्दिष्ट ऋषिपंचमी के दिन सम्पूर्ण जैन समाज संवत्सरी पर्व मनावें ।

(२) उसी स्वीकृत पंचांग में निर्दिष्ट पक्ष के अंतिम दिन पक्खी, चातुर्मासी की जाए ।

(३) महावीर जयन्ति, आयंबिल ओली आदि भी उसी पंचांग में निर्दिष्ट दिन में की जावे अर्थात् किसी एक पंचांग को सर्व सम्मति से संपूर्ण जैन समाज स्वीकार करे ।

(४) उदय तिथि, अस्त तिथि एवं घड़ी पल आदि के आग्रह मन कल्पित है । आगम काल से प्राचीन व्याख्या काल तक नहीं थे । वे आग्रह आगमाधार रहित है । पूर्वाचार्यों के निर्णय से विपरीत है । १००–२०० या कुछ वर्षों से चले हैं । अत: इन आग्रहों को छोड़कर निर्णित

पंचांग के अनुसार ही सभी तिथि या पर्व आदि मानें–मनावें ।पूर्वाचार्यों ने १३०० वर्ष पहले सर्व सम्मति से लौकिक पंचांग को आगम सम्मत स्वीकार किया है ।

पूर्वाचार्यों का निर्णय :–

१३०० वर्ष पूर्व देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् निकटवर्ती समय में हमारे दिग्गज विद्वान आचार्यों ने यह सामूहिक निर्णय लिया था कि 'हमारा ज्योतिष शास्त्र आगम-ज्ञान अत्यधिक नष्ट हो चुका है इससे तिथि पर्व निर्णय सही नहीं हो सकता है । लौकिक पंचांग पूर्ण रूप से आगम मूलक ही है, अर्थात् आगम से अविढद्ध है, आगम सम्मत ही है । अत: अब से हमें अपने सभी पर्व तिथियों का निर्णय इस लौकिक पंचांग के आधार से ही करना है । यह बात **आचार्य सिद्ध सेन** की इन दो गाथाओं से जानी जा सकती है—

विषमे समय विसेसे, चरण ग्गह चार रिक्खाणं ।
पव्वतिहीण य सम्मं, पसाहगं विगलियं सुत्तं ॥१॥
तो पव्वाई विरोहं णाउण, सव्वेहिं गीय सूरीहिं ।
आगम मूल मिणं पि य, तो लोइय टिप्पणयं पगयं ॥२॥

अर्थ– समय की विषमता के कारण ग्रह नक्षत्र की गति आदि सम्बन्धी पर्व तिथियों का सम्यग् ज्ञान कराने वाला श्रुत वर्णन व्यवछिन्न हो गया है **॥१॥**

अत: पर्व निर्णय आदि तिथि निर्णय में विरोध आता हुआ जानकर सभी गीतार्थ बहुश्रुत आचार्यों ने इस लौकिक पंचांग को "आगम मूलक ही है", ऐसा जानकर इसे स्वीकार किया है । तात्पर्य यह है कि सभी पर्व तिथि आदि का निर्णय लौकिक पंचांग से मानना आगम सम्मत स्वीकार किया **॥२॥**

इन दो भाष्य गाथाओं में लौकिक पंचांग को पूर्ण रूप से आगम सम्मत माना है और इसी के अनुसार पर्व तिथी मानने का निर्णय लिया है । अत: अब किसी को भी अस्ततिथि, घड़ी-पल का अडंगा डालने का अधिकार नहीं है । एवं प्रेस गलती आदि भूलों के दोष के निवारणार्थ अन्य पंचागों से मिलान अवश्य कर लेना चाहिये ।

यह जानकर संपूर्ण जैन समाज को सरलता पूर्वक एक पंचांग को मान्य करके उसमें लिखी तिथियों के दिन ही सभी पर्व मानने चाहिए । एवं प्रेस गलती आदि भूलों के दोष के निवारणार्थ अन्य पंचांगों से मिलान अवश्य कर लेना चाहिये ।

लौकिक पंचांग में भादवा सुद पंचमी या चतुर्थी जिस दिन भी ऋषि पंचमी लिखे वही ऋषि मुनियों का प्राचीन पर्व समझना चाहिए । सम्पूर्ण जैन समाज को अपना आग्रह न रखते हुए जिस तारीख को पंचांग में ऋषि पंचमी लिखे उस दिन संवत्सरी करनी चाहिए । आगम सम्मत निश्चित्त पर्यूषण(संवत्सरी) दिन यही है ।

अधिक मास का प्रश्न एवं चौथ का प्रश्न ये दोनों पश्चात्वर्ती है अर्थात् बाद में खडे हुए हैं। भादवा सुदी पंचमी अर्थात् ऋषि पंचमी की मौलिक प्रामाणिकता अनेक ग्रन्थों में हैं । अत: अपने अपने आग्रहों का त्याग कर ऋषि पंचमी को (जो चौथ के आग्रह में कभी छूट गई है) पुन: स्वीकार करके अनेकता को समाप्त करना चाहिए और एकता स्थापित करना चाहिए ।

पंचांगों में अधिक मास को नगण्य करके ही ऋषि पंचमी लिखी जाती है । पूर्वकाल में अधिक मास को गौण करके ही पर्वों का निर्णय करते थे अत: कोई मतभेद नहीं था । इसी कारण प्राचीन ग्रंथों में अधिक मास संबंधी कोई चर्चा नहीं मिलती है । यह कुतर्क बहुत बाद में मूर्खता से चली है और दुराग्रह में पडी है ।

निवेदन :– समस्त जैन समाज से निवेदन है कि इन उक्त वाक्यों पर ध्यान दे और पंचाग में सूचित ऋषि पंचमी के दिन ही संवत्सरी करें ***(१००–२०० वर्ष से चली परम्परा के उदय तिथि, अस्त तिथि, घड़ियों आदि के चक्कर में न फर्से । क्यों कि प्राचीन टीकाओं–व्याख्याओं में उदयतिथि, अस्त तिथि की कोई भी चर्चा देखने को नहीं मिलती है ।)*** अर्थात् पंचांग के निर्णय में अपनी टांग न अड़ावें । क्यों कि विद्वान पूर्वाचार्यों का सामूहिक निर्णय है कि ये लौकिक पंचांग और उनकी पद्धति आगम सम्मत है तब कोई भी आचार्य आदि इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार क्यों ले बैठते हैं ? यह एक विचारणीय प्रश्न है । क्यों कि ऐसा करने में पूर्वाचार्यों के सामूहिक निर्णय का अपमान या उपेक्षा करना होता है । ***उक्त दो गाथाओं के कर्ता सिद्धसेन आचार्य***

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के १५० वर्ष बाद भाष्यकार हुए हैं ।

अतः अपना अपना मन कल्पित दुराग्रह और हस्तक्षेप छोड़कर ऋषि पंचमी को ही संवत्सरी पर्व का आराधन करें । यही निश्चित्त आगम पर्युषणा दिन है । पूर्वाचार्यों के निर्णय में एवं आगमों में कहीं भी उदय तिथि या अस्त तिथि या पाँचम की घड़ियां आदि का कोई भी उल्लेख-घोटाला नहीं है ।

सभी तीर्थंकरों का जन्म भी उदय तिथि से ही आगमों में सूचित किया गया है और आज भी उसी के अनुसार मनाया जाता है । उसमें अस्त तिथि या घड़ियाँ नहीं देखी जाती हैं । सभी सामान्य तिथियों की गिनती तो समस्त जैन समाज में आज भी उदय तिथि से ही(पंचांगनुसार) मानी जाती है । फिर यह पर्व तिथियों के लिए अस्त तिथि का अडंगा बिना आगामाधार का क्यों स्वीकार किया जाता है ?

अतः सम्पूर्ण जैन समाज मिलकर :- १. किसी एक लौकिक पंचांग को सर्व सम्मति से प्रामाणिक स्वीकार करे । २. फिर उसमें लिखित ऋषि पंचमी के दिन ही संवत्सरी करें ।३. और उसमे लिखे पक्ष के अन्तिम दिन ही पक्खी प्रतिक्रमण करें ।

इसका कारण यह है कि पाक्षिक क्षमापनादि पक्ष के समाप्त होने पर ही करना उचित है एवं पक्खी के दूसरे दिन पंचांग मे सूचित दूसरा पक्ष प्रारंभ हो जाना चाहिए । अन्य पर्व दिन भी पंचांग सूचित तिथि को ही करना चाहिए । उसमें अपना-अपना अडंगा या जैन पंचांग के नाम का अडंगा डालकर फूट-फजीता नहीं करना चाहिए । तभी पूर्वाचार्यों के निर्णय का सम्मान होगा । इसके लिए तेरस, चौदस को छोड़कर केवल पूनम एवं अमावस को ही पक्खी, चौमासी पर्वतिथि मानना चाहिए । तेरस चौदस को पक्खी करना आगमिक नहीं है क्यों कि वह पक्ष का अन्तिम दिन नहीं है ।

निबंध-५७

संवत्सरी विचारणा : निर्णय

(१) दशाश्रुतस्कंध सूत्र की निर्युक्ति गाथा १६ की चूर्णि में-

अषाढ पुण्णिमातो आढत्तं मग्गंताणं जाव भद्दवय जोण्हस्स पंचमीए, एत्थंतरे जइ ण लद्धं ताहे ढक्खहेट्ठे ठितो तो वि पज्जोसवेतव्वं ।

अण्णया पज्जोसवणा दिवसे आसण्णे आगते अज्जकालगेण सातवाहणो भणितो- भद्दवय जोण्हस्स पंचमीए पज्जोसवणा ।

अर्थ :- आषाढ़ी पूर्णिमा से लेकर यावत् **भादवा सुदी पंचमी** तक चातुर्मास क्षेत्र की गवेषणा कर रह जाना चाहिए । इतने समय के बीच भी चातुर्मास योग्य क्षेत्र न मिले तो वृक्ष के नीचे ढक जाना और पर्यूषण करना ।

"चतुर्मास में किसी समय पर्यूषण दिवस निकट आया जानकर **कालकाचार्य** ने सातवाहन राजा से कहा कि **भादवा सुदी पंचमी** को पर्यूषण है ।"

(२) निशीथ सूत्र उद्देशा १० में- अपर्यूषणा के दिन पर्यूषण करे और पर्यूषण के दिन पर्यूषण न करे तो गुढचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है । इन सूत्रों की चूर्णि मे अनेक बार **भादवा सुदी पंचमी** का कथन किया गया है तथा अनेक बार एक मास २० दिन का कथन किया है । किन्तु इस बीच महिने बढ़ने सम्बन्धी चर्चा नहीं की है । अतः चूर्णिकार के समय तक अधिक मास की चर्चा के बिना भादवा सुदी पंचमी एक मत से निश्चित आगमिक पर्यूषणा तिथि थी । स्वयं कालकाचार्य ने भी राजा से उसी तिथि का कथन किया था ।

यहाँ निशीथ सूत्र में किंचित् भी आहार पानी का पर्यूषण के दिन सेवन करने पर गुढ चौमासी प्रायश्चित्त कहा है तथा सवंत्सरी(पर्यूषण) के दिन तक लोच नहीं करे तो भी उतना ही प्रायश्चित्त कहा है । इस प्रकार शास्त्रकार "पर्यूषण" शब्द से संवत्सरी का निर्देश करते है । उसके लिये प्राचीन आचार्य भादवा सुदी पंचमी का स्पष्ट निर्देश करते हैं।

अधिक मास होने सम्बन्धी विवाद बहुत बाद का है तथा निरर्थक विवाद मात्र खड़ा किया हुआ है क्यों कि अधिक मास अन्य सभी धार्मिक पर्वों में नगण्य किया जाता है अर्थात् उस महीने को नहीं गिना जाता है यथा-

१. चैत्र दो आवे तब महावीर जयन्ति दूसरे चैत्र में की जाती है ।

२. वैशाख दो हो तो अक्षय तृतीया दूसरे वैशाख मास में की जाती है ।

३. आषाढ़ दो हो तो चौमासी दूसरे आषाढ़ में की जाती है ।

४. कार्तिक दो हो तो चौमासी दूसरे कार्तिक मास में की जाती है।

५. फागुण दो हो तो चौमासी दूसरे फागुण में की जाती है ।

६. ओली पर्व भी दूसरे चैत्र व आसोज में की जाती है ।

७. लौकिक पर्व रक्षाबन्धन भी दूसरे श्रावण में होता है ।

अत: संवत्सरी के लिये अधिक मास के प्रश्न में उलझना बेकार का विवाद है ।

(३) **समवायांग सूत्र की टीका में** भी भादवा सुदी पंचमी का स्पष्ट कथन है– ये व्याख्या करने वाले विक्रम की सातवीं शताब्दि से लेकर १२वीं शताब्दि के श्वेतांबर मूर्तिपूजक विद्वान आचार्य हैं । जिन्होंने **भादवा सुदी पंचमी** का स्पष्ट उल्लेख किया है ।

निबंध–५८

चौथ की संवत्सरी आगम विरूद्ध

निशीथ सूत्र उद्देशा १० में आये दो सूत्रों से यह स्पष्ट होता है कि पर्यूषण का दिवस एक निश्चित्त दिवस है । उन सूत्रों में कहा है कि अपर्यूषण के दिन पर्यूषण(संवत्सरी) करे तथा पर्यूषण के दिन पर्यूषण न करे तो दोनों स्थिति में गुढ चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

कालकाचार्य ने भी राजा को संवत्सरी दिवस के निकट आने पर सूचना की थी कि **भादवा सुदी पंचमी** का पर्युषणा दिवस निकट आ गया है । फिर राजा के लिहाज से उन्होंने चौथ की संवत्सरी करी तो भी उन्होंने परिस्थिति का अपवाद सेवन किया था यह स्पष्ट है ।

इस कथानक के वर्णन में भी ऐसा **सिद्धांत नहीं बनाया** गया है कि **इसका मैं कोई प्रायश्चित्त नहीं लेता हूँ और आगे भी अब सभी साधु सदा चौथ की संवत्सरी करना ।** किन्तु उन कालकाचार्य के सैकड़ो वर्षो बाद के चूर्णिकार, टीकाकार आदि भी **भादवा की पंचमी का उल्लेख पर्यूषण दिन** के लिए कर रहे हैं ।

एक रूपक :– किसी व्यक्ति ने बड़े भोजन के प्रसंग में मरी हुई बिल्ली को देखकर "लोग भोजन किये बिना ही न चले जाये" इस भाव से उस मृत बिल्ली पर कोई बर्तन ढ़क दिया । उसे देखने वाला पुत्र

अपने मन से जब कभी बड़ा भोजन प्रसंग हो तो बिल्ली मार कर बर्तन से ढकें तो उसे उचित नहीं कहा जा सकता है । ठीक चौथ की संवत्सरी का आग्रह भी उसी कोटि की मूर्खता का है और **निशीथ सूत्र की उपेक्षा करने वाला है ।** अत: यह आगम विढद्ध दुराग्रह है ।

इस दुराग्रह के कारण ही कल्पसूत्र में किसी ने पाठ प्रक्षिप्त किया कि "उस दिन के पहले संवत्सरी करे तो कर सकते किन्तु बाद में नहीं ।" वह पाठ भी निर्युक्ति चूर्णिकार के बाद में जोड़ा गया है और निशीथ सूत्र उ. १० के प्रायश्चित्त विधायक सूत्र से पूर्ण विढद्ध है । क्यों कि वहाँ उस निश्चित्त दिन में न करके अन्य किसी भी दिन करे तो गुढ चौमासी प्रायश्चित्त कहा है । अत: निश्चित दिन भादवा सुदी पंचमी ही था जिसे अनेक व्याख्याओं और ग्रंथकारों ने स्वीकार किया है और आज भी ऋषिपंचमी तिथि पंचांगो में–टीपणो में प्रसिद्ध है । यह वास्तव में जैन मुनियों की ही निश्चित्त पर्व तिथि है किन्तु चौथ के आग्रह काल से इसका महत्त्व जैन संघ भूल गया है । अन्य धर्म वालों का तो गणेश चतुर्थी पर्व दिन भादवा सुदी चौथ का है ही । अत: यह भादवा सुदी पंचमी–ऋषि पंचमी ही जैनों का संवत्सरी पर्व दिन है ऐसा निश्चित समझना चाहिए ।

एकता के हिमायती जैनियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए कि एक पंचांग को निश्चित्त कर उसमें लिखी ऋषि पंचमी के दिन संवत्सरी पर्व की आराधना करने का निर्णय करें एवं उसी पंचांग में लिखी सभी तिथियों को स्वीकार करें और पक्ष का जो अंतिम दिन लिखा हो उसी दिन पक्खी चौमासी करें । ऐसा करने से ही अनेकता दूर होकर एकता स्थापित हो सकती है ।

निबंध–५९

स वत्सरी विचारणा

(निशीथ, समवाया ग, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र आधारित) स वत्सरी के लिये आगम **निशीथ सूत्र** में पर्युषणा शब्द का प्रयोग किया गया है । स वत्सरी शब्द वर्तमान प्रचलित शब्द है । जिसका अर्थ है– पूरे

स वत्सर में विशिष्ट धर्म आराधना का एक दिन, वह स वत्सरी पर्व दिन । इस पर्व दिन के लिये **निशीथ सूत्र उद्देशक १९** में विशिष्ट विधान है जिसके भाष्यादि प्राचीन व्याख्याओं में भादवा सुदी प चमी का उल्लेख मिलता है, जिसमें प्राचीन सभी व्याख्याएँ एक मत है। उनमें अधिक मास या तिथि घट-वध से प चमी या भादवा के परिवर्तन की कोई चर्चा-विवाद की ग ध मात्र भी नहीं है ।

समवाया ग सूत्र के ७० वें समवाय में एक सूत्र में यह निरूपण है कि **''श्रमण भगवान महावीर वर्षाकाल का** १ महीना २० दिन बीतने पर और ७० दिन शेष रहने पर वर्षावास पर्युषित करते थे ।**''**

विचारणा– भगवान महावीर के ४२ चातुर्मास का वर्णन जो भी प्राप्त होता है उसके अनुसार उन्होंने सभी चातुर्मास चार महीनों के ही किये थे । तो भी यहाँ भगवान के नाम से जो कुछ कहा गया है वह स देहपूर्ण है । क्यों कि इसमें अनेक प्रश्नचिह्न अ कित होते हक्त, यथा– यह विषय सित्तरवें समवाय में ही क्यों कहा ? बीसवें या पचासवें समवाय में क्यों नहीं कहा ? चातुर्मास का कथन है या पर्युषण का कथन है ? वगैरह**..**। वास्तव में कल्पसूत्र में ऐसा एक पाठ है जो बहुत ल बा एव तर्क से अस गत सा है, उसी का यह प्रथम वाक्याँश है । कल्पसूत्र के उस कल्पित से पाठ को प्रामाणिकता की छाप के वास्ते उसके एक अ श को यहाँ अ गसूत्र में कभी भी किसी ने लगा दिया हो, ऐसी स भावना लगती है । अत: प्रस्तुत सूत्र से स वत्सरी के निर्णय की कल्पना करना सही नहीं है । इस सूत्र के नाम से ४९-५० दिन की कल्पना करना और मूल में स्पष्ट लिखित ७० दिन की उपेक्षा करना भी योग्य नहीं है ।

प्रश्न– ज बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में ५० वें दिन स वत्सरी करना कहा है?

उत्तर–उस सूत्र में स वत्सरी स ब धी एक भी वाक्य नहीं है । उत्सर्पिणी काल के वर्णन में प्रथम तीर्थंकर के जन्म से हजारों वर्ष पहले कुछ (२१००० वर्ष पहले) मा साहारी मानव वनस्पतियों को विकसित सुलभ देखकर परस्पर मिलकर मा साहार नहीं करने की मर्यादा बा धेंगे, ऐसा वर्णन है । उस समय प्रथम तीर्थंकर का शासन भी चालु नहीं हुआ होगा, साधु-साध्वी भी कोई नहीं होंगे । तब स वत्सरी का तो वहाँ प्रस ग भी

नहीं है । तो भी लोग आग्रह में पडी बात के लिये ज्यों त्यों करके कुछ भी लगा देने का श्रम करते है, कि तु– 'मिल गया चाबुक का तोडा, घटे फिर लगाम और घोडा' वाली कहावत चरितार्थ करते हक्त । अत: ज बूद्वीप प्रज्ञप्ति की बात तो उक्त कहावत के समान नासमझी की होती है । श्रावक-साधुपन भी नहीं है तो स वत्सरी का वहाँ कोई अर्थ नहीं है।

सार यह है कि स वत्सरी स ब धी कुछ स्पष्ट कथन **निशीथ सूत्र के उन्नीसवें उद्देशक में है** और उसी की व्याख्या में भादवा सुदी प चमी कही है । पर परा भी जिसकी साक्षी है तथा कालकाचार्य की जो घटना प्रचलित है उसमें उन्होंने भी राजा को अपनी स वत्सरी मनाने के कथन में भादवा सुदी प चमी का ही निरूपण किया था । फिर राजा के आग्रह से एक दिन पहले भादवा सुदी चौथ को परिस्थितिवश राजाज्ञा से उस राजधानी के चातुर्मास के लिये ही की थी । यह वर्णन भी ग्र थों में है । इससे भी भादवा सुदी प चमी की प्राचीनता एव महत्ता सिद्ध होती है । इस घटना में भी अधिकमास स ब धी या तिथि घट-वध स ब धी या प्रतिक्रमण के समय के घडी पल स ब धी कोई चर्चा विचारणा नहीं है । अत: लौकिक प चा ग में लिखी भादवा सुदी पंचमी(ऋषि प चमी) तर्क विना स्वीकार कर स वत्सरी पर्व मनाना श्रेयस्कर होता है । आगम काल से जिस निश्चित तिथि का नामोल्लेख प्राप्त हो रहा है, उससे अन्य कोई भी तिथि को अर्थात्(पहले या पीछे) स वत्सरी करने पर उस निशीथ सूत्र के पाठ से प्रायश्चित्त आता है । फिर भले अपने गुढ या पर परा के नाम से या बहुमति के नाम से कोई कभी भी करके सच्चाई का स तोष माने तो वह स्पष्ट ही आगम भावों की उपेक्षा और आत्मव चना बनती है । यह सिद्धा त की बात है।

सामान्यतया **'सोही उज्जुय भूयस्स'** शुद्धि सरल आत्मा की होती है और शुद्धात्मा में धर्म टिकता है, अत: चर्चाविवाद में जो अपनी पहुँच नहीं हो तो सरलता के साथ धर्म भावों की एव त्याग-तप की वृद्धि करना ही कल्याण का मार्ग है । अत: **सामान्य जन** के लिये विवाद में पडे बिना शा त-प्रशा त भावों से हृदय की पवित्रता से स वत्सरी पर्व की आराधना करने में प्रवृत्त रहना चाहिये। विशेष ज्ञानी आत्माओं को सत्य निष्ठा के साथ आगम प्रमाणों की विचारणा करनी चाहिये ।

निबंध– ६०

सुभाषित संग्रह : उत्तराध्ययन सूत्र

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥ [अध्य०१,गाथा- १५]

अर्थ– आत्मा का ही दमन करना चाहिए, आत्मा ही दुर्दम है, आत्मा का दमन करने वाला ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है ।

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणि य जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुइ सद्धा, संजमंमि य वीरियं ॥ [अध्य०३,गाथा–१]

अर्थ– मोक्ष के हेतु भूत चार अंग परम दुर्लभ है, मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम में पराक्रम ।

सोही उज्जूय भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई,
निव्वाणं परमं जाई, घय सित्तिव्व पायवे ॥ [अध्य०३, गाथा–१२]

अर्थ– जो पूर्ण सरल होता है उसी की शुद्धि होती है । धर्म वहीं ठहरता है जो शुद्ध हो । घृत से अभिशिक्त अग्नि की भाँति परिनिर्वाण को वही प्राप्त होता, जहाँ धर्म ठहरता है ।

वित्तेण ताणं ण लभे पमत्ते, इमंमि लोए अदुवा परत्था ।
दीवप्पणट्ठे व अणंत मोहे, णेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥ [अध्य०४,गाथा–५]

अर्थ– प्रमत्त मनुष्य इस लोक में अथवा परलोक में धन से त्राण नहीं पाता, अंधेरी गुफा में जिसका दीप बुझ गया हो उसकी भाँति अनंत मोह वाला प्राणी, पार ले जाने वाले मार्ग को देखकर भी नहीं देखता ।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहो लोहो पवडढ़इ ।
दो मास कयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥ [अध्य०८,गाथा–१७]

अर्थ– जैसे लाभ बढ़ता जाता है वैसे लोभ बढ़ता जाता है, दो माशे सोने से पूरा होने वाला कार्य करोड़ों से भी पूरा नहीं हुआ ।

कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ॥ [अध्य०१०,गाथा–२]

अर्थ– कुश की नोक पर लटकते हुए ओस बिन्दु की अवधि जैसे थोड़ी होती है वैसे ही मानव जीवन की गति है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाण मत कर ।

दुलहे खलु माणुसे भवे, चिर कालेण वि सव्व पाणिणं ।
गाढ़ा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम मा पमायए ॥ [अध्य०१०,गाथा–४]

अर्थ– बहुत लम्बे काल तक मनुष्य भव प्राणी को नहीं मिल पाता है क्यों कि अनेक संचित कर्मों के प्रगाढविपाक के कारण वह नाना योनियों में जन्म मरण करते हुए विश्राम ही नहीं पाता है अत: हे गौतम! प्राप्त इस अवसर में अब समय मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।

खण मित्त सुक्खा बहुकाल दुक्खा, पगाम दुक्खा अणिगाम सुक्खा ।
संसार मोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण हु काम भोगा ॥
–[अध्य०१४,गाथा–१३]

अर्थ– काम भोग क्षण भर के लिये सुख देने वाले हैं और चिरकाल तक दु:ख देने वाले हैं । ये अनर्थो की खान है एवं मोक्ष के अर्थात् कर्म संसार से मुक्त होने के ये पक्के विरोधी है क्यों कि भोगासक्त व्यक्ति संसार बढ़ाता है ।

जा जा वच्चइ रयणी, ण सा पडिणियत्तई ।
अहम्मं कुण माणस्स, अफला जंति राइओ ॥ [अध्य०१४,गाथा–२४]

जा जा वच्चइ रयणी, ण सा पडिणियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ॥ [अध्य०१४,गाथा–२५]

अर्थ– जो जो रात्रियाँ बीत रही है वे लौट कर नहीं आती, अधर्म करने वाले की वे रात्रियाँ निष्फल है । धर्म करने वाले की वे रात्रियाँ सफल होती है ।

देव दाणव गंधव्वा, जक्ख रक्खस्स किण्णरा ।
बंभयारिं णमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥ [अध्य०१६,गाथा–१६]

अर्थ– देव दानव गन्धर्व यक्ष राक्षस, किन्नर भी उन्हें नमस्कार करते हैं, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं ।

एस धम्मे धुवे णिच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झंति चाणेण, सिज्झिस्संति तहावरे ॥ [अध्य०१६,गाथा–१७]

अर्थ– यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव, नित्य, शास्वत और अर्हत द्वारा उपदिष्ट है, इसका पालन कर अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं, और भविष्य में होंगे ।

लाभा लाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दा पसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥ [अध्य.१९,गाथा–६०]

अर्थ– लाभ अलाभ, जीवन मरण, सुख दुख, निन्दा प्रशंसा, मान अपमान, में सदा सम परिणामी रहने वाले सफल साधक होते हैं ।

अणिस्सिओ इहं लोए, पर लोए अणिस्सिओ ।
वासी चंदणकप्पो य, असणे अणसणे तहा ॥ [अध्य.१९,गाथा–६१]

अर्थ– इस लोक और परलोक में अनासक्त, वसूले से काटने या चंदन लगाने पर तथा आहार मिलने या न मिलने पर सम रहने वाले मुनि सफल साधक होते हैं अर्थात् वे चंदन वृक्ष के समान स्वभाव वाले होते हैं । चंदन काटने वाले को एवं पूजने वाले को दोनों को सुगंध ही देता है, समान व्यवहार रखता है वैसे ही श्रमण भी सम परिणाम एवं व्यवहार ही सदा रखता है ।

अप्पा णई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा काम दुहा धेणु, अप्पा मे णंदणं वणं ॥ [अध्य.२०,गाथा–३६]

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ [अध्य.२०,गाथा–३७]

अर्थ– आत्मा ही वेतरणी नदी है, और आत्मा ही कूट शाल्मलीवृक्ष है, आत्मा ही कामदुधा धेनु है, और आत्मा ही नंदनवन है । आत्मा ही दुःख सुख को पैदा करने वाली और उनका क्षय करने वाली है, सत्यवृत्ति में लगी आत्मा ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी आत्मा ही शत्रु है ।

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वाया विद्धो व्व हड़ो, अट्ठि अप्पा भविस्सइ ॥ [अध्य.२२,गाथा–४४]

अर्थ– यदि तूँ जो कोई स्त्रियों को देखकर इस प्रकार राग भाव करेगा, तो वायु से आहत हड वृक्ष की तरह सदा अस्थिरात्मा हो जायेगा ।

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्व सत्तू जिणामहं ॥ [अध्य.२३,गाथा–३६]

अर्थ– एक मन आत्मा को काबू में करने पर चार कषाय, पाँच इन्द्रिया यों कुल १० काबू में हो जाते हैं और दस पर विजय होने पर सभी आत्म शत्रुओं पर विजय हो जाती है ।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥ [अध्य.२५,गाथा–३१]

अर्थ– कर्तव्यों से ही मानव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र होता है । जाति का महत्व केवल व्यवहार मात्र का होता है । आत्मोन्नति में वह बाधक नहीं हो सकता ।

जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ॥ [अध्य.२८,गाथा–१४]

तहियाण तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥ [अध्य.२८, गाथा–१५]

अर्थ– जीवादि तत्त्वों के सद्भाव(वास्तविक अस्तित्व) के निरूपण में जो अन्तःकरण से श्रद्धा करता है, उन तत्त्वों का ज्ञान करता है, उसे सम्यक्त्व होता है, एवं उस अन्तःकरण की श्रद्धा को ही भगवान ने सम्यक्त्व कहा है ।

पंच समिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ ।
अगारवो य निसल्लो, जीवो होइ अणासवो ॥ [अध्य.३०,गाथा–३]

जहा महातलायस्स, सण्णिरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥ [अध्य.३०,गाथा–५]

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्म निरासवे ।
भव कोडी संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥ [अध्य.३०,गाथा–६]

अर्थ– पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, अकषायी, जितेन्द्रिय, अगौरव(गर्व रहित) और निःशल्य जीव अनाश्रव होता है । जिस प्रकार कोई बड़ा तालाब, जल आने के मार्ग का निरोध

करने से, जल को उलीचने से, सूर्य के ताप से, क्रमशः सूख जाता है । उसी प्रकार संयमी पुढष के पास कर्म आने का मार्ग निरोध होने से करोड़ों भवों के संचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं ।

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंत सोक्खं समुवेई मोक्खं ॥
[अध्य०३२,गाथा-२]

अर्थ– सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश, अज्ञान और मोह का नाश तथा राग और द्वेष का क्षय होने से आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है ।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइ मरणं वयंति ॥
[अध्य०३२,गाथा-७]

अर्थ– क्यों कि राग और द्वेष ये कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह (कर्म) जन्म मरण का मूल है, जन्म मरण को दुःख का मूल कहा है ।

निबंध– ६१

सुभाषित संग्रह : आचारांग सूत्र

खणं जाणाहि पंडिए । [अध्य०२, उद्दे०१] – हे पंडित ! तूँ क्षण याने अवसर को जान ।

इणमेव णावकंखंति, जे जणा धुव चारिणो ।
जाइ मरणं परिण्णाय, चरे संकमणे दढ़े ॥ –अध्य०२, उद्दे०३ ॥

अर्थ– जो पुढष मोक्ष की ओर गतिशील है, वे (विपर्यासपूर्ण जीवन) जीने की इच्छा नहीं करते, जन्म मरण को जानकर वे मोक्ष के सेतु पर दृढ़ता पूर्वक चले ।

णत्थि कालस्स णागमो ।–अध्य०२, उद्दे०३ ॥– मृत्यु के लिये कोई भी क्षण अनवसर नहीं है ।

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपड़िकूला अप्पियवहा पिय जीविणो जीविउकामा । –अध्य०२,उद्दे०३ ॥

अर्थ– सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, वे सुख का आस्वाद करना चाहते हैं, दुःख से घबराते हैं, उन्हें वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है, वे जीवित रहना चाहते हैं । **सव्वेसिं जीवियं पियं । –अध्य०२, उद्दे०३ ॥** सब प्राणियों को जीवन प्रिय है ।

परिग्गहाओ अप्पाणं अवसकेज्जा । –अध्य०२,उद्दे०५ ॥ परिग्रह से अपने आपको दूर रखें । परिग्रह में लुप्त न हो ।

कामादुरतिक्कमा । –अध्य०२,उद्दे०५ ॥ काम भोग दुर्लंघ्य है अर्थात् काम वासना से मुक्त रह जाना अति कठिन है ।

जीवियं दुप्पडिवूहणं । –अध्य०२,उद्दे०५ ॥ जीवन को बढ़ाया नहीं जा सकता ।

कडेण मूढे पुणो तं करे लोहं । –अध्य०२,उद्दे०५ ॥ अपने ही कृत कर्मों से मूढ़ होकर जीव पुनः काम सामग्री पाने को ललचाता है ।

अमरायइ महासड्ढी । –अध्य०२,उद्दे०५ ॥ वह जीव अमर की भाँति आचरण करता है अर्थात् संसारी अज्ञानी जीव जीवित रहने की महान श्रद्धा रखते हुए कर्त्तव्य करते रहते हैं । मरने का विश्वास नहीं करते।

अपरिण्णाए कंदति । –अध्य०२,उद्दे०५ ॥ त्याग नहीं करने वाला क्रंदन करता है ।

तम्हा पावं कम्मं, णेव कुज्जा ण कारवे ।–अध्य०२,उद्दे०६ ॥ इसलिए स्वयं पापकर्म का संग्रह न करे न दूसरों से करवाए ।

जे ममाइय मइं जहाइ से चयइ ममाइयं । – जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है ।

अरइं आउट्टे से मेहावी खणंसि मुक्के – वीर पुढष जो अरति को मन से निकाल देते हैं वे क्षण भर में मुक्त हो जाते हैं । अर्थात् सदा हर परिस्थिति में प्रसन्न वदन रहने वाले कभी भी म्लान नहीं बनते हैं वे आत्माएं शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर लेती है ।

मुणी मोणं समादाय, धुणे कम्म सरीरगं । पंतं लूहं च सेवंति, वीरा सम्मत्त दंक्षीणो एस ओहंतरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए ति बेमि॥ –अध्य०२,उद्दे०५ ॥ मुनि ज्ञान को प्राप्त कर कर्म शरीर

को प्रकम्पित करे । वीर एवं समत्वदशी साधक नीरस और रूक्ष आहारादि का सेवन करते हैं, ऐसे मुनि संसार सागर से तिर जाते हैं। वे ही वास्तव में तीर्ण, मुक्त एवं विरत कहे जाते हैं ।

जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणण्ण दंसी ।–अध्य०२,उद्दे०६ ॥जो अनन्य (स्वयं) को देखता है वह अनन्य(स्व) में रमण करता है, जो अनन्य में रमण करता है, वह अनन्य को देखता है अर्थात् जो आत्म भाव में रमण करता है वही आत्मभाव स्वभाव को प्राप्त कर सकता है ।

माई पमाई पुणरेइ गब्भं । –अध्य०३,उद्दे०१ ॥ मायी और प्रमादी बार बार जन्म लेता है ।

लोयंसी परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते ।
समिए सहिए सया जए, कालकंखी परिव्वए –अध्य०३,उद्दे०२ ॥

अर्थ– जो लोक में परम तत्व को देखता है अर्थात् कर्म से मुक्त होने का सदा लक्ष्य रखता है वह विविक्त जीवन जीता है, उपशांत बनता है, सम्यग् आचरण एवं ज्ञानादि से युक्त होता है । वह सदा अप्रमत्त होकर जीवन के अंतिम क्षण तक मोक्ष के प्रति गति करता है।

बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं, सच्चम्मि धिइं पुकव्वहा ।–अध्य०३, उद्दे०२ ॥ इस जीव ने अतीत में बहुत पाप कर्म किये हैं, अतः मुमुक्षु प्राणी सत्य में–संयम में धृति करे अर्थात् अब संयम तप में स्थिर होकर कर्म क्षय करने चाहिये ।

णिस्सारं पासिय णाणी उववायं चवणं णच्चा, अणण्णं चर माहणे। –अध्य०३,उद्दे०२ ॥ ज्ञानी ! तूँ देख कि विषय निस्सार है, जन्म जरा मरण निश्चित है यह जानकर हे अहिंसक ! तू अनन्य(मोक्ष मार्ग) का आचरण कर।

णिविंद णंदि अरते पयासु । –अध्य०३,उद्दे०२ ॥ काम भोग से उदासीन बन, स्त्रियों में अनुरक्त मत बन ।

कोहाईमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं ।
तम्हाहि वीरे विरते वहाओ, छिन्देज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥
–अध्य०३,उद्दे०२ ॥

अर्थ– वीर पुरूष कषाय(क्रोध और मान) को नष्ट करे, लोभ को महान् नरक रूप देखे, वायु की भाँति अप्रतिबद्ध विहार करने वाला वीर साधक हिंसादि पापों से विरत होकर स्त्रोतों(कामनाओं) को छिन्न कर डाले ।

गंथं परिण्णाय इहज्ज वीरे, सोयं परिण्णाय चरेज्ज दंते ।
उम्मज्ज लद्धुं इह माणवेहिं, णो पाणिणं पाणे समारंभेज्जासि
–अध्य०३,उद्दे०२ ॥

अर्थ– इन्द्रिय जयी वीर परिग्रह और कामनाओं को तत्काल छोड़कर विचरण करे, इस मनुष्य जन्म में ही संसार सिंधु से निस्तार हो सकता है, अतः मुनि प्राणियों के प्राणों का समारंभ न करे ।

आगतिं गतिं परिण्णाय, दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणे । से ण छिज्जइ ण भिज्जइ ण डज्झइ, ण हम्मइ कंचणं सव्व लोए।।– अध्य०३,उद्दे०३ ॥

अर्थ– आगति और गति अर्थात् जन्म मरण को जानकर जो(राग-द्वेष) दोनों (अंतों) से दूर रहता है, वह लोक के किसी भी कोने में छेदा, भेदा, जलाया और मारा नहीं जाता है अर्थात् कही भी दुःखी नहीं होता है ।

अणेग चित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहई पुरित्तए ।–चंचल चित्त वाले प्राणी का पुढषार्थ चालणी को पानी से भरने के समान निष्फल होता है ।

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ? –अध्य०३, उ०३॥ पुढष! तूँ ही तेरा मित्र है, फिर बाहर मित्र क्यों खोजता है?

पुरिसा अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि ।–अध्य० ३, उद्दे०३ ॥ पुरूष ! आत्मा का ही निग्रह कर, ऐसा करने से ही तूँ दुःख से मुक्त हो जाएगा ।

पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए उवट्ठिए सेयं समणुपस्सइ ।–अध्य०३,उद्दे०३ ॥ – हे पुढष तूँ सत्य संयम का ही अनुशीलन कर । सत्य का साधक धर्म को स्वीकार कर श्रेय को प्राप्त करता है ।

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं से एगं जाणइ ।–अध्य॰३, उद्दे॰४ ॥ जो एक को अच्छी तरह जानता है (आत्मा को) वह सर्व लोक स्वरूप को जान लेता है । जो सबको जानता है, वह एक को जानता है ।

सव्वओ पमत्तस्स अत्थि भयं, सव्वओ अपमत्तस्स णत्थि भयं । –अध्य॰३, उद्दे॰४ ॥ प्रमत्त को सब ओर से भय होता है, अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं होता ।

सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा । –अध्य॰४, उद्दे॰१ ॥ किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिये, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए, उनका प्राण वियोजन नहीं करना चाहिए ।

एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए समिच्चं लोयं खेयण्णेहिं पवेइए । –अध्य॰४,उद्दे॰१ ॥ यह(अहिंसा) धर्म शुद्ध नित्य और शाश्वत है, खेदज्ञ अरिहंत प्रभू ने लोक को जानकर इसका प्रतिपादन किया ।

जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा, जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा । एए पए संबुज्झमाणे, लोयं च आणाए अभिसमेच्चा पुढ़ो पवेइयं ।–अध्य॰४,उद्दे॰२ ॥ जो आश्रव (कर्म बंध) के स्थान हैं वे ही परिस्रव कर्म मोक्ष के कारण बन जाते हैं । जो परिस्रव हैं वे ही आश्रव हो जाते हैं, जो अनास्रव है वे ही अपरिस्रव हो जाते हैं, जो अपरिस्रव हैं वे ही अनास्रव हो जाते हैं । इन पदों को, भंगों को समझने वाला, विस्तार से प्रतिपादित जीव लोक को जानकर आश्रव न करे अर्थात् सभी संयोगों में जिनाज्ञा अनुसार विवेक पूर्वक वर्तन करे जिससे आश्रव ढक सकता है एवं निर्जरा हो सकती है ।

कम्मुणा सफलं दट्ठुं, तओ णिज्जाइ वेयवी ।–अध्य॰४, उद्दे॰४ ॥ कर्म अपना फल देते हैं, यह देख कर ज्ञानी मनुष्य कर्म संचय से निवृत होते हैं ।

से सुयं च मे अज्झत्थियं च मे "बंध पमोक्खो अज्झथेव" । –अध्य॰५, उद्दे॰२ ॥ मैने सुना है, मैने अनुभव किया है – बंध और मोक्ष आत्मा अध्यवसों से ही होता है ।

इमेणं चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ? –अध्य॰५, उद्दे॰३ ॥ इस (कर्म शरीर) के साथ ही युद्ध कर, दूसरों के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ ?

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं ।–अध्य॰५, उद्दे॰३ ॥ युद्ध के योग्य सामग्री मनुष्यत्व आदि निश्चित ही दुर्लभ है ।

तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं त्ति मण्णसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं त्ति मण्णसि, तुमं सि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं त्ति मण्णसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मण्णसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं त्ति मण्णसि । –अध्य॰५, उद्दे॰५ ॥

जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही है तो ? जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है तो ? जिसे तू परिताप देन योग्य मानता है वह तू ही है तो ? जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है तो ? जिसे तू मारने योग्य मानता है वह तू ही है तो ? ज्ञानी हन्तव्य और घातक की एकता को समझ कर जीता है, न हनन करता है न करवाता है । अपना किया कर्म अपने को ही भुगतना पड़ता है इसलिए हनन की इच्छा मत करो ।

जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया । जेण विजाणति से आया ।–अध्य॰५, उद्दे॰५ ॥

जो आत्मा है वह ज्ञाता है, जो ज्ञाता है वही आत्मा है, क्यों कि जानने के लक्षण वाला ही आत्मा होता है । जानता है इसलिए आत्मा है ।

जीवियं णाभिकंखज्जा, मरणं णोवि पत्थए ।
दुहतोवि ण सज्जेज्जा, जीविए मरणे तहा । –अध्य॰८, उद्दे॰८ ॥

अर्थ– मोक्षार्थी साधक जीवन की आकांक्षा न करे, मरण की इच्छा न करे, जीवन मरण दोनों में आसक्त न बने अर्थात् जीवन मरण में सम परिणामी होकर वर्तमान भाव में ही शुभ परिणाम रखे ।

निबंध– ६२

सुभाषित संग्रह : दशवैकालिक सूत्र

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवावि तं णमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥अध्य.१, गाथा–१॥

अर्थ– धर्म उत्कृष्ट मंगलरूप है और वह अहिंसा, संयम और तप रूप है, जिनका मन धर्म में अनुरक्त रहता है उन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं ।

जे य कंते पिए भोए, लद्धेवि पिट्ठि कुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥अध्य.२, गाथा–३॥

अर्थ– जो महापुढष पूर्व पुण्य के उदय से प्राप्त हुए मनोहर भोगों और इष्ट शब्दादि विषयों को विविध वैराग्य भावना भाकर त्याग देते हैं, उनसे विमुख हो जाते हैं, और निरोग एवं समर्थ होते हुए भी समस्त भोगों को त्याग देते हैं, वे ही त्यागी कहलाते हैं ।

आयावयाहि चय सोगमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं ।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥
–अध्य.२, गाथा–५ ॥

अर्थ– आतापना ढप तपस्या करो, सुकुमारता को छोडो, इन्द्रिय विषयों में राग न करो । राग के त्याग से दुःखों का नाश हो ही जाता है । द्वेष का लेश भी न रहने दो और राग को छोड दो, तो सहज ही संसार में सुखी अथवा परिषह–उपसर्गों के संसार में विजयी होंगे।

पक्खंदे जलियं जोइं, धूम केउं दुरासयं ।
णेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥अध्य.२, गाथा–६॥

अर्थ– गंधन और अगंधन दो प्रकार के सर्प होते हैं, जो मंत्रादि के वशीभूत होकर वमित विष को वापस चूस लेते हैं, ये गंधन और जो जलती हुई अग्नि शिखा में प्रवेश कर जाते हैं, परन्तु वमित विष को नहीं चूसते वे अंगधन सर्प कहलाते हैं ।

थिरत्थु ते अजसोकामी, जो तं जीविय कारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥अध्य.२, गाथा–७॥

अहं व भोगरायस्स, तं च सि अंधगवण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥अध्य.२, गाथा–८॥
जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वाया विद्धुव्व हडो, अट्ठि अप्पा भविस्ससि ॥अध्य.२, गाथा–९॥

अर्थ– हे अपयश के अभिलाषी तुझे धिक्कार है । असंयम जीवन के सुख के लिए जो वमन किये को खाना चाहता है, इस प्रकर के जीवन से तो मर जाना ही अच्छा है । हे रथनेमि ! मैं भोजराज की पोती हूँ और उग्रसेन की बेटी हूँ, तुम अन्धक वृष्णि के पौत्र समुद्रविजय के बेटे हो, दोनों ही निर्मल कुलों में उत्पन्न हुए हैं, हमें गंधन कुलों में उत्पन्न सर्पो के समान नहीं होना चाहिए । अतः विषयादि को त्याग कर अनंत सुखों के कारण भूत निरतिचार संयम का पालन करो । यदि तुम जिस जिस स्त्री को देखोगे, उन सब पर यदि विकार भाव करोगे तो आंधी से उड़ाये गये हड़ वनस्पति या शेवाल की तरह अस्थिर हो जाओगे ।

कहं चरे कहं चिट्ठे, कह मासे कहं सए ।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥अध्य.४, गाथा–७॥

अर्थ– हे भगवान ! यदि ऐसा है तो (अर्थात् चलने आदि में हिंसा होती है और पापकर्म का बंध होता है तो) मुनि कैसे चले ? कैसे खड़ा रहे ? कैसे सोये ? कैसे भोजन करे ? कैसे भाषण करे ? जिससे पाप कर्म का बंध न हो ।

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जय मासे जयं सये ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पाव कम्मं न बंधई ॥अध्य.४, गाथा–८॥

अर्थ– मुनि, यतना से(इर्या समिति युक्त होकर) चले, यतना से खड़े होवे, यतना से बैठे, यतना से सोये, यतना से भोजन करे, यतना से भाषण करे तो वह पाप कर्म को नहीं बाँधता है ।(यहाँ यतना का मतलब– विवेक से, चंचलता रहित, जीवों को देखते हुए और उनकी रक्षा करते हुए, सावधानी पूर्वक तथा व्यवस्थित ढंग से चलना आदि उक्त क्रियाएँ करने वाला हिंसा से बचता है । जिससे पापकर्म का बंध नहीं होता है । सामान्य बंध तो निरंतर जीव के होता ही रहता है ।)

सव्व भूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधइ ॥अध्य.४, गाथा-९॥

अर्थ- सभी प्राणियों में आत्म तुल्य बुद्धि रखने से, सम्यक् प्रकार से जीव स्वरूप को समझने से, कर्मागमन रूप आश्रव निरोध करने से, एवं इन्द्रियों का दमन करने से मुनि पाप कर्म नहीं बंधता है ।

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्व संजए ।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाहीइ सेय-पावगं ॥अध्य.४, गाथा-१०॥

अर्थ- पहले जीवों का ज्ञान करने से ही फिर उनकी दया का पालन हो सकता है । इसी सिद्धांत के आधार से संयम साधना होती है । अज्ञानी संयम का आचरण कैसे करेगा और हिताहित को-अच्छे खराब को कैसे जानेगा ।

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ॥अध्य.४, गाथा-११॥

अर्थ- ज्ञान को सुनकर ही अच्छा-खराब अर्थात् कल्याण एवं पापकारी कृत्यों को जाना जाता है । अत: हिताहित दोनों को जानकर, सुनकर जो श्रेयकारी हो उसका आचरण करना चाहिये ।

जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणेइ ।
जीवा जीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ॥अ.४, गा.१२॥

अर्थ- जो साधक जीवों को नहीं जानता है, अजीवों को भी नहीं जानता है । इस प्रकार जीवाजीव का भेद नहीं समझने वाला संयम को कैसे समझेगा अर्थात् वह संयम को नहीं समझ सकता ।

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणेइ ।
जीवा जीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥अ.४, गा.१३॥

अर्थ- जो जीव अजीव उभय के स्वरूप को भलीभाँति समझता है वही संयम की विधियों को समझ सकता है, पालन कर सकता है ।

दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सुग्गइं ॥ अ.५, उद्दे.१, गा.१००॥

अर्थ- प्रत्युपकार की बिना आशा रखे दान देने वाला दाता दुर्लभ है, बिना कुछ उपकार किए भिक्षा ग्रहण करने वाले साधु भी बिरले ही

है, प्रत्युकार की आशा न रखने वाला दाता और किसी का कार्य न करने वाले मुनि ये दोनों ही सद्गति को एवं मोक्ष गति को प्राप्त करते हैं ।

तव तेणे वय तेणे, रूव तेणे य जे नरे ।
आयार भाव तेणे य, कुव्वइ देव किव्विसं ॥अ.५, उद्दे.२, गा.४६॥

अर्थ- जो साधु तप के, व्रतों के, रूप के, आचार के एवं भाव के चोर होते हैं, अर्थात् इनका जिनाज्ञानुसार ईमानदारी से पालन नहीं करते हैं, वे किल्विषि देवों में उत्पन्न होते हैं ।

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं ण मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, णिग्गंथा वज्जयंति णं ॥अ.६, गा.११॥

अर्थ- सब जीव जीने की इच्छा रखते हैं, कोई जीव मरना नहीं चाहता, इसलिए प्राणियों का वध(हिंसा) करना घोर दु:ख दाता होने से भयंकर है, अत: निर्ग्रन्थ साधु इसका त्याग करते हैं । इसी प्रकार माया एवं मृषावाद का भी भिक्षु त्याग करे । अचोर्यव्रत पालन का निर्देश इस प्रकार हैं-

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंत सोहणमित्तं वि, उग्गहं सि अजाइया ॥अध्य.६, गाथा-१४॥

अर्थ- सचित एवं अचित अल्प या बहुमूल्य यहाँ तक कि दंत शोधन का तृण भी स्वामी की आज्ञा लिए बिना मुनि ग्रहण नहीं करते हैं ।

मूल मेय महमस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुण संसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥अध्य.६, गाथा-१७॥

अर्थ- अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, वध बंधादि महादोषों की खान है । इसलिए १८ पापों को पैदा करने वाले मैथुनरूप स्त्री संसर्ग का निर्ग्रन्थ परित्याग करते हैं ।

ण सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताईणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इय वुत्तं महेसिणा ॥अध्य.६, गाथा-२१॥

अर्थ- ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने निर्दोष वस्त्र आदि का ग्रहण करना परिग्रह नहीं बताया हैं, क्यों कि वस्त्रादि शरीर के पुष्टावलम्बन हैं, किन्तु उन में मूर्च्छा भाव को परिग्रह कहा है ।

अधुवं जीवियं णच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया ।
विणियट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमिय मप्पणो ॥अध्य.८, गाथा-३४॥

अर्थ- जीवन अनित्य है, विनश्वर है, ऐसा विचार कर रत्नत्रयी रूप मोक्ष मार्ग को जानकर, विषयों से विरक्त हो जावे, क्यों कि न जाने कब इस देह से संयोग छूट जाय, एक क्षण भी जीवित रहना निश्चय नहीं है ।

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥अध्य.८, गाथा-३६॥

अर्थ- जब तक बुढापे के कारण शरीर में शिथिलता नहीं आती, शरीर को रोग नहीं आ घेरते, इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास नहीं होता, तब तक श्रुत चारित्र रूप धर्म का आचरण कर लेना चाहिए ।

कोहं माणं च मायं च, लोहं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसाइं, इच्छंतो हियमप्पणो ॥अध्य.८, गाथा-३७॥

अर्थ- आत्मा के विभाव परिणाम रूप क्रोध, दूसरों को हीन भान कराने वाला मान, छल-कपट रूप माया, द्रव्यादि आकांक्षा रूप लोभ, ये चारों दोष चारित्र को दूषित करने वाले हैं । अतः आत्मा के हितैषी साधक को इनका अवश्य ही त्याग करना चाहिये ।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय णासणो ।
माया मित्ताणि णासेइ, लोहो सव्व विणासणो ॥अध्य.८, गाथा-३८॥

अर्थ- क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय गुण नष्ट करता है, माया मित्रता का नाश करती है, लोभ सर्व गुणों का विनाशक है ।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चज्जव भावेणं, लोहं संतोसओ जिणे ॥अध्य.८, गाथा-३९॥

अर्थ- क्षमा के द्वारा क्रोध को, विनय से मान को, सरलता से माया को, संतोष से लोभ को जीतना चाहिये ।

कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया व लोहो व पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥
॥अध्य.८, गाथा-४०॥

अर्थ- निग्रह नहीं किए हुए किंतु बढते हुए क्रोध, मान, माया, लोभ

आदि ये चारों कषाय जन्म मरण की जड को सींचने वाले हैं ।

मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधा हु पच्छा समुविंति साहा ।
साहप्पसाहा विढहंति पत्ता, तओ सि पुप्फं च फलं रसो य ॥
एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो ।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं, णीसेसं चाभिगच्छइ ॥अ.९, उ.२,गाथा-१,२॥

अर्थ- जैसे वृक्ष के मूल से स्कंध की उत्पत्ति होती है, स्कंध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएं, और प्रशाखाओं से पत्ते उत्पन्न होते हैं इसके अनन्तर उस वृक्ष में फूल, फल और फल में रस आता है। इसी प्रकार धर्म का मूल विनय है एवं उसका परम फल मोक्ष है । विनय गुण से ही कीर्ति श्रुत श्लाघा आदि संपूर्ण गुणों की उपलब्धि होती है ।

णाण मेगग्गचित्तो य, ठिओ य ठावई परं ।
सुयाणिय अहिज्जित्ता, रओ सुयसमाहिए ॥अध्य.९, उद्दे.४,गाथा-३॥

अर्थ- श्रुत समाधि के ४ प्रकार है- आचारांग आदि का श्रुत ज्ञान प्राप्त होगा इसलिए अध्ययन करना, एकाग्रचित वाला होऊँगा, शास्त्र अध्ययन कर समझ कर आत्मा को मोक्ष मार्ग में लगाऊँगा, स्वयं स्थिर रहकर दूसरों को स्थिर करूंगा ।

नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा । नो पर लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, णो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। णण्णत्थ णिज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ॥

अर्थ- तप समाधि के ४ भेद - इहलोक सम्बन्धी लब्धि की इच्छा से तप न करे, परलोक स्वर्ग आदि कामनाओं से तप न करे, यश आदि की वाँच्छा से तप न करे, केवल कर्मो की निर्जरा के अभिप्राय से तप करे । इस तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र का भी कर्म निर्जरा के लिये आसेवन करे ।

निबंध- ६३

सुभाषित संग्रह : सूयगडांग सूत्र

बुज्जेज्जत्ति तिउट्टेज्जा, बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधण वीरो, किं वा जाणं तिउट्टेइ ? ॥अध्य.१,उद्दे.१,गाथा-१॥

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अण्णं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चइ ॥अध्य.१,उद्दे.१, गाथा–२॥

सयंतिवायए पाणे, अदुवा अण्णेहिं घायए ।
हणंतं वा अणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥अध्य.१,उद्दे.१, गाथा–३॥

अर्थ– बोधि को प्राप्त करो, बंधनों को जानकर उसे तोड़ डालो । प्रश्न उपस्थित होता है कि महावीर ने "बंधन" किसे कहा है ? किस तत्व को जान लेने पर बंधन तोड़ा जा सकता है ?

समाधान– जो मनुष्य चेतन या अचेतन पदार्थो में परिग्रह बुद्धि (ममत्व) रखता है और दूसरों के परिग्रह का अनुमोदन करता है, वह दु:ख से मुक्त नहीं हो सकता । जो प्राणी वध करता है, कराता है एवं प्राणि वध का अनुमोदन करता है वह संसार की वृद्धि करता है । इसलिये आरंभ(वध) और मूर्छा ममत्व(परिग्रह) का त्याग करना यही संसार बंधनों से छूटने का उपाय है । आरंभ और परिग्रह ये ही संसार में कर्म बंधन को बढ़ाने वाले हैं ।

एवं खु णाणिणो सारं, जं ण हिंसइ कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव, एयावंतं वियाणिया ॥अध्य.१,उद्दे.४, गाथा–१॥

अर्थ– ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करे, समता और अहिंसा इन्हें ही उसे जानना समझना पर्याप्त जढरी है ।

संबुज्झह किं ण बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥
–अध्य.२, उद्दे.१,गाथा–१॥

अर्थ– संबोधि प्राप्त करो, बोधि को प्राप्त क्यों नहीं होते, जो वर्तमान में सम्बोधि को प्राप्त नहीं होते, उसे अगले जन्म में भी वह सुलभ नहीं होती । बीती हुई रात्रियां लौटकर नहीं आती, यह मनुष्य जीवन वापिस मिलना बहुत कठिन है, दुर्लभ है ।

जहा णई वेयरणी, दुत्तरा इह सम्मता ।
एवं लोगंसि णारिओ, दुत्तरा अमइमया ॥अध्य.३,उद्दे.४, गाथा–१६॥

अर्थ– जैसे वैतरणी नदी (विषम तट और तेज प्रवाह के कारण)

दुस्तर मानी जाती है, वैसे ही अबुद्धिमान अज्ञानी पुढषों के लिए स्त्रियाँ दुस्तर होती है । अर्थात् मानव मात्र के लिये स्त्रियों में मोहित नहीं होना दुष्कर होता है ।

खेयण्णए से कुसले महेसी, अणंतनाणी य अणंतदंसी ।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइं च पेह ॥
–अध्य.६,गाथा–३॥

से सव्वदंसी अभिभूयणाणी, णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥
–अध्य.६, गाथा–५॥

अर्थ– ज्ञात पुत्र आत्मज्ञ खेदज्ञ कुशल महर्षि अनन्त ज्ञानी अनंतदर्शी थे, उन यशस्वी और आलोक पणे में स्थित ज्ञातपुत्र के धर्म को जानो और उनकी धृति को देखो । वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे, विशुद्ध भोजी, धृतिमान और स्थितात्मा थे, वे सर्व जगत में अनुत्तर विद्वान, अपरिग्रही, अभय और अनायु(जन्म मरण के चक्र से रहित) थे ।

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥अध्य.६, गाथा–२३॥

अर्थ– जिस तरह दानों में अभयदान श्रेष्ठ है, सत्य में निर्वद्य वचन श्रेष्ठ है, तपमें उत्तम ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, वैसे ही लोक में श्रमण भगवान ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ हैं ।

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्तदोसा ।
एयाणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ ॥
–अध्य.६, गाथा–२६॥

अर्थ– क्रोध,मान, माया और लोभ ये चारों आध्यात्म दोष रूप है । इनका त्याग करके अर्हंत महर्षि पापकृत्य स्वयं भी नहीं करते, अन्य से भी नहीं करवाते ।

सोच्चा य धम्मं अरहंत भासियं, समाहियं अट्ठपदोवसुद्धं ।
तं सद्दहंता य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगमिस्सं ॥अध्य.६, गाथा–२९॥

अर्थ– समाधिकारक एवं अष्टकर्मों से आत्मा को शुद्ध करने वाला अर्हंतभाषित धर्म को सुनकर एवं उसकी श्रद्धा करके मानव आयुष्यकर्म

रहित मोक्ष अवस्था को प्राप्त करते हैं । देवों के स्वामी इन्द्र बन कर आगे के भवों से मुक्त होते हैं ।

जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया ।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा ॥अध्य॰११,गाथा-३६॥

अर्थ- जो बुद्ध(तीर्थंकर) हो चुके हैं, और जो होंगे, उनका सबका सिद्ध बुद्ध होने का मूल आधार शान्ति है, जैसे जीवों का आधार पृथ्वी है ।

सद्देसु रूवेसु असज्जमाणे, रसेसु गंधेसु अदुस्समाणे ।
णो जीवियं णो मरणाभिकंखी, आयाणगुत्ते वलया विमुक्के ॥
-अध्य॰१२,गाथा-२२॥

अर्थ- जो शब्दों, रूपों, रसों और गंधों में रागद्वेष नहीं करता, जीवन और मरण की आकांक्षा नहीं करता इन्द्रियों का संवर करता है, वह वलय (संसार चक्र) से मुक्त हो जाता है ।

समेच्च लोगं तस थावराणं, खेमंकरे समणे माहणे वा ।
आइक्खमाणो वि सहस्स मज्झे, एगंतयं साहयति तहच्चे ॥
-(श्रुत-२,अध्य-६,गाथा-४)

अर्थ- १२ प्रकार की तप साधना द्वारा श्रम करने वाले श्रमण, **जीवों को मत मारो** का उपदेश देने वाले **माहण** केवल्य द्वारा समग्र लोक को एवं त्रस स्थावर जीवों को यथावस्थित जानकर हजारों लोगों के बीच में उपदेश करते हुए भी भगवान एकान्तसेवी (रागद्वेष से रहित) की साधना में रत है ।

ooooo

निबंध-६४

पुढषार्थ से भाग्य में परिवर्तन संभव

वर्तमान में हम जो पुढषार्थ करते हैं, उसका फल अवश्य ही प्राप्त होता है । भूतकाल की दृष्टि से उसका महत्त्व अधिक भी है और कम भी । वर्तमान में किया गया पुढषार्थ यदि भूतकाल में किये गये पुरूषार्थ से दुर्बल है तो वह भूतकाल के किये गये पुरूषार्थ पर नहीं छा सकता । यदि वर्तमान में किया गया पुरूषार्थ भूतकाल के पुरूषार्थ से प्रबल है तो वह भूतकाल के पुरूषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है, बदल सकता है ।

यदि कर्म की केवल बंध और उदय ये दो ही अवस्थाएं होती तो बद्ध कर्म में परिवर्तन को अवकाश नहीं होता, किन्तु अन्य अवस्थाएँ भी है । यथा- (१) उद्वर्तन (२) अपवर्तन (३) उदीरणा (४) संक्रमण।

उद्वर्तन अपवर्तन से कर्मों की स्थिति और रस बढ़-घट सकता है, उदीरणा से कर्मों को तप आदि से जल्दी क्षय कर दिया जाता है। संक्रमण से शुभकर्म, अशुभ में और अशुभकर्म, शुभ में परिवर्तित हो जाते हैं । ये चार कर्म अवस्थाएँ मानव या प्राणी के लिए पुरूषार्थ से भाग्य को परिवर्तन करने में अनुपम अवसर(चांस) देने वाली है। अत: व्यक्ति को कर्माधीन होकर हताश नहीं होना चाहिए । अनेकांत सिद्धांत में ऐसी एक से एक कडिएँ है, जिनसे नई चेतना मिलती है। इसी कारण पाँच समवायों में पुरूषार्थ को व्यवहार प्रधान कहा गया है । फिर भी कहीं भाग्य की जीत भी सुरक्षित रहती है ।

कर्मों की कुछ अवस्थाएँ ऐसी भी होती है जिसमें पुरूषार्थ से भी परिवर्तन संभव नहीं होता है, वह कर्मों की **निकाचित** अवस्था कहलाती है । इस प्रकार दो तरह की कर्म अवस्थाएँ होने से क्वचित् सफलता की आशा की गुंजाईश होने से मानव को पुढषार्थरत रहना चाहिए । भाग्य के भरोसे हतास होकर नहीं बैठना चाहिए । कहा भी है- ***उद्यमेन हि सिद्यंति कार्याणि न मनोरथैः । न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविसंति मुखे मृगाः ॥***

परिश्रम ही सफलता की कुंजी है ।

:: कर्म संबंधी ज्ञेयतत्त्व ::

♦ शरीर सुंदर मिलना, अंगोपांग योग्य मिलना, सशक्त मिलना अथवा कमजोर मिलना, बेडोल शरीर मिलना, कान आँख के साधन कमजोर मिलना, यह सब **नाम कर्म के उदय संयोग** से होता है ।

♦ मिले शरीर से कष्ट पाना या सुखी रहना, रोग भुगतना, अंगोपांग टूटना अथवा उम्र भर कोई भी रोग कष्ट न आना, यह सब **वेदनीय कर्म के उदय संयोग** से होता है ।

♦ आँख में चश्मे का, कान में मशीन का, संयोग मिल जाना, यह **ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय** कर्म क्षयोपशम के संयोग से होता है ।

♦ कैसे भी कर्म संयोग में दुःखी नहीं होना, सदा प्रसन्न रहना समपरिणामों में रहना, यह **चारित्रमोहनीय** कर्म के **रति-अरति प्रकृति** के क्षयोपशम संयोग से होता है ।

♦ चारित्र मोह का क्षयोपशम भी शुभ पुढषार्थ, संवर पुढषार्थ से होता है । यही चारित्र मोह का आदर्श क्षयोपशम महात्माओं को सम परिणामी बनने में बहुत सहयोगी होता है ।

♦ समभावों में रमण करना ही साधना का प्रमुख लक्ष्य है ।

आगम साहित्य उपलब्धि

(१) ३२ पुस्तकों का हिन्दी सारांश सेट झेरोक्ष ---	१,०००/-
(२) १० पुस्तकों का हिन्दी प्रश्नोत्तर सेट------	२००/-
(३) गुजराती सारांश सेट---------------	४००/-
(४) गुजराती प्रश्नोत्तर सेट---------------	६००/-
(५) गुजराती सेट अनुपलब्ध होने पर झेरोक्ष सेट--	१,२००/-
(६) आगम परिचय हिन्दी में अनुपलब्ध होने पर झेरोक्ष--	१००/-
(७) आगम निबंधमाला के प्रत्येक भाग का मूल्य------	४०/-

नोट : आगम लेखमाला के भाग के लिये ६०,००० ढपये में दाता आमंत्रित है,फोरकलर में फोटो परिचय । दाता मिलने पर पुस्तक निशुल्क होगी ।

निबंध-६५

क्रियोद्धार शब्द की वास्तविकता

जब किसी भी समाज में, संघ में, राज्य में, देश में; चल रही सुव्यवस्थित परंपरा में, नीति में, सिद्धांतो में, व्यवस्था में; पक्षांधता से, मूर्खता से (डेढ होयारी से), मूढता से (समझ भ्रम से), अंधानुकरण से, अबूझ चलन से, आपा-धापी से, व्यक्ति व्यामोह से, सत्ता और पुण्य बल के दुढपयोग से, निष्क्रिय भेडचाल की बुद्धिवाले लोगों की मदद से; अन्याय, अनीति, मनमानी, अव्यवस्था, स्वार्थ, वैमनस्य, दुर्भावना, कषायभावना, उचित परंपराओं से छेडछाड चलने लगती है; उसकी गला-डूब अति होने लगती है; अंधानुकरण चलने लगता है; तब कोई सूज्ञ समूह या सशक्त-समर्थ व्यक्ति, उसके सामने आवाज उठावे, क्रांतिकारी कदम उठावे; उस अंधानुकरण के छेदन रूप में सुदर्शन चक्रवत् बगावत खडी करे तथा खोटे कदम उठाने वालों के सामने अवरोध का वातावरण खडा करके; सही, न्याय संगत, गुढ वडीलों के आज्ञानुरूप निर्देशानुरूप वक्तव्य एवं प्रवर्तन; पूरी शक्ति के साथ प्रारंभ कर सफलता के शिखर को छूने में दत्तचित्त-पुढषार्थशील बने; उसी हिम्मत, उत्साह की प्रवृत्ति का नाम ही क्रांति कहो, क्रियोद्धार कहो, सत्य प्रकाश कहो, सत्योद्धार कहो; सभी एक अर्थ-भाव को प्रगट करने वाले हैं ।

वह अटूट हिम्मती अदम्य उत्साही व्यक्ति या समूह क्रियोद्धारक या क्रांतिकर्ता, सत्योद्धारक एवं न्यायमार्ग प्रकाशक कहलाता है । उसके न्यायपूर्ण आचरण एवं वक्तव्य तथा निर्णय से अनेक सत्यनिष्ठ एवं अव्यवस्था-अन्याय से दुःखी, किंकर्तव्य विमूढ तथा सत्यमार्ग चाहक व्यक्तियों का अन्तर्मानस अनुपम आनंद से, अहोभावों से, सच्ची आत्म समाधि से अपने आपको कृतकृत्य एवं अनुपम उपलब्धि से महा भाग्यशाली होने का आभास-अनुभव करता है । तत्फल स्वरूप वे लोग अपने ढके हुए विकास को दुगुनी, अनेक गुणी, हजारों गुणी शक्ति के साथ प्रगतिशील करने के महान उत्साह में आ जाते हैं । जिससे वे भी अपने एवं अपने सहचारियों के तथा सत्यान्वेषी पुण्यवान जीवों के लिए सन्मार्ग प्रकाशक एवं सच्ची आत्मशांति-संतुष्ठी प्रदायक बनते हैं । यों ऐसे क्रांतिकर्ता, क्रियोद्धारक व्यक्ति या समूह दूसरों के महान उपकारी होने के साथ साथ अपनी आत्मा के लिए भी इस भव, पर भव के लिए महान उपकारी सिद्ध होते हैं ।